योग क्या है ?

(एक विवेचन)

गिरीश 'गोवर्द्धन'

आध्यात्मिक एवं धार्मिक ग्रन्थ तथा लघु पुस्तिकाओं का प्रणयन

- **आत्मानुभूति** (परम तत्व अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार)
- **परम तत्व का क्रीड़ा विलास**
- **दीक्षा ज्ञान** (दीक्षाज्ञान भाग - 1)
- **ज्ञान भूमि के सप्त सोपान** (दीक्षाज्ञान भाग - 2)
- **अग्नि विद्या** (दीक्षाज्ञान भाग - 3)
- **हमारे खेल एवं जीवन दर्शन** (दीक्षाज्ञान भाग - 4)
- **उठो ! जागो !! यश प्राप्त करो !!!** (उद्बोधन्)
- **अध्यात्म-साधना परम्परा एवं अनुभूति**
  (कालचक्र के नियतिक्रम में 'युग परिवर्तन' की घोषणा)
- **युग परिवर्तन** (अहोरात्र एवं कृतयुग की अवधारणा)
- **वेदवाणी का रहस्य** (संस्कृत सूत्र शब्दावली : परिचय एवं गूढ़ार्थ)
- **स्नान रहस्य** (मोक्ष : सिद्धि का मार्ग)
- **'पुरुष तत्व' और पति-पत्नी का प्रकट रूप**
- **श्रुति सन्देश** अर्थात् **'महाभारत ग्रन्थ के लेखनकार्य में श्रीगणेश के चिन्तन के क्षण'** एवं **'ब्रह्म का विस्तार और अभिव्यक्ति के सूत्र'**
- **दो रूप - धन की देवी लक्ष्मी के**
- **आम्रफल का दिव्य-सन्देश**
- **योग क्या है ?** (एक विवेचन)

* * *

सम्पर्क-अक्षर अनुसंधान केन्द्र, 37, क्षपणक मार्ग, अनुपूरक 'अ' योजना,
दशहरा मैदान, उज्जैन, (म. प्र.), पिन- 456010
दूर ध्वनि- 094250 74072,
e-mail- girish goverdhan @ gmail.com

ॐ

जय हो
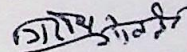
योग क्या है ?
(एक विवेचन)

तँ ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.18 ॥

आदरणीय डॉ. पारस शास्त्री,
42/11, बरनाई रोड़, बन्तालेब, जम्मू, को सादर भेंट,
[signature]
गिरीश 'गोवर्द्धन'
1.10.2012 उज्जैन (म.प्र.)

गिरीश 'गोवर्द्धन'

ॐ

जय हो

योग क्या है ?
(एक विवेचन)

प्रथम संस्करण :

देव प्रबोधिनी एकादशी, सवत् 2068

6 नवम्बर 2011

रुपये 40.00

प्रकाशक :

देवज्ञ प्रकाशन,

अक्षर अनुसंधान केन्द्र, 37-अ, क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान,

उज्जैन (म.प्र.) पिन 456010

शब्द संयोजन:-

अक्षर अनुसंधान केन्द्र,

37 क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान, उज्जैन (म.प्र.) पिन 456010

मुद्रण :

छाजेड़ प्रिंटरी प्रा.लि.

स्टेशन रोड़, रतलाम (म.प्र.) 457001

By- **GIRISH 'GOVERDHAN'**

Akshar Anusandhan Kendra,

37, Kshapanak Marg 'A' Scheme,

Dashahara Maidan, UJJAIN(M.P.) 456010 INDIA

योग ही क्यों ?

'हेयं दुःखमनागतम्।' (योगदर्शनम् २.१६) संसार में दुःख सदा, सर्वदा, सर्वत्र, 'हेय' या त्याज्य है। कोई किसी मात्रा में भी उसे स्वीकारना नहीं चाहता। अतः इस सर्वमान्य समस्या पर अनादिकाल से ही अनन्त विचारकों ने इस पर काफी कुछ कहा है। जो स्वीकार्य है एवं विचार्य भी।

योग में भी हेय (दुःख), हेय हेतु (दुःख का कारण), हान (दुःख का निवारण) तथा हानोपाय (दुःख नष्ट करने का उपाय) इन चार बिन्दुओं पर योग साधना केन्द्रित रहती है। योग के ये चारों बिन्दु बौद्ध दर्शन में 'चार आर्य सत्य' रूप में प्रकट हुए हैं। जिन्हें संसार बन्धन से मुक्ति का साधन माना गया है।

सुख एवं दुःख का उपभोग करने वाले प्राणी का स्वरूप तो चेतन, नित्य, द्रष्टा एवं अविनाशी माना गया है। और उसे परमेश्वर के एक अंश के रूप में स्वीकार किया गया है। उसके अन्दर ईश्वर की सभी कलाएँ, शक्तियाँ एवं महानता भरी हुई हैं। परन्तु व्यवहार में छोटी से छोटी वस्तु के लिये कभी यह मनुष्य अनेक उचित अनुचित कार्य करने को बाध्य हो जाता है। उसका ईश्वरत्व अदृश्य हो जाता है। माया और क्लेश के आवरण उसे ईश्वर से जीव बना देते हैं। इसे योग में क्लेश- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, आदि पाँच क्लेश अथवा वेदान्त के अनुसार माया कहा जाता है। कहा भी गया है- ''माया महा ठगिनी हम जानी।'' इसी के आधीन होकर, सदसद्विवेक नष्ट होकर निरंकुश आचरण मनुष्य करने लगता है। और कर्म प्रवाह में गिर जाता है। प्रत्येक कर्म अपना संस्कार या प्रभाव छोड़ता है। कर्मों की यही पूंजी परिपक्व होकर प्रारब्ध अथवा भोग्य के रूप में प्राप्त होती है, जो अपरिहार्य है, जिसे भोगना ही है। प्रारब्ध के लिये कहा गया है- ''**नाऽभुक्तंक्षीयते कर्म कल्प कौटि शतैरपि।**''

यह कर्म की मीमांसा है। कर्म का नियम है। इससे कोई नहीं छूट सकता। कर्म के तीनों प्रकार शुक्ल (सत्कर्म), कृष्ण (दुष्कर्म) एवं मिश्रित अपनी-अपनी क्षमतानुसार फल देते हैं। और सुख-दुःख का कारण बनते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि कर्म इतना परिणामकारी है तो क्या कर्म को छोड़ा नहीं जा सकता ? गीता में कहा है-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (गीता ३.५)

अतः कर्म अनिवार्य है। कर्म का फल अनिवार्य है। परिणाम में सुख-दुःख भी अनिवार्य है। एक क्षण भी बिना कर्म किये मनुष्य नहीं रह सकता।

इनसे मुक्ति पाने के लिये योग में इनका आधार ढूँढ लिया है। इन सबका एकमात्र आधार है मनुष्य का मन। उपनिषद् वाणी में कहा है- **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।'** (मैत्रायण्युपनिषद् ४.११) यही मन अविद्यादि क्लशों के वशीभूत होकर कर्मफल के प्रवाह में मनुष्य को बहा ले जाता है। और वही (मन ही) समय आने पर इस कर्म भंवर से बाहर निकलने का मार्ग भी उपलब्ध करा देता है।

अतः योग ने अपनी साधना मन को आधार मानकर आरम्भ की है - **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।'** (योगदर्शनम् १.२) चित्तवृत्ति का निरोध यदि कर लें तो- **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (योगदर्शनम् १.३) तब द्रष्टा - चेतन जीव अथवा प्राणी - अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसका वास्तविक स्वरूप है सत्य, शिव, सुन्दर और तब उसे लगता है मेरा आनन्द स्वरूप, मेरा ईश्वर रूप कहां खो गया था। उसे अविद्यादि क्लेश की पृथकता का अनुभव भी होता है। यह चित्तवृत्ति निरोध की अन्तिम स्थिति है।

योग साधना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव है। इस साधना को क्रमानुसार आठ सोपान (सीढ़ियों) में विभक्त किया गया है। यथा- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। फिर भी ये सभी अंग अपना महत्व रखते हुए भी समाधि की सिद्धि के ही साधक हैं। कहा भी है- **''योगः समाधिः''** अर्थात् ''समाधि ही योग है।'' उसके लिये उत्तम आचार विचार एवं व्यवहार तथा नियमित जीवन एवं स्वस्थ शरीर, शुद्ध एवं सबल मन, प्राण अनिवार्य है। इनके बाद भूमिका या समाधि की तैयारी के लिये प्रत्याहार आवश्यक है। अनेक जन्मों से बना बहिर्मुख, बाह्यापेक्षी स्वभाव को अन्तर्मुखी करने - प्रति = विपरीत, आहार = प्रवृत्ति, - पर यहाँ से इन्द्रियों पर अधिकार की साधना आरंभ होती है। कहा है- **'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।'** (योगदर्शनम् २.५५) मनुष्य के मन को भटकाने का काम विषयों के प्रति इन्द्रियों की आसक्ति द्वारा होता है। जब तक मन भटकता रहेगा धारणा, ध्यान, समाधि हो ही नहीं सकते। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रिय निग्रह की उपलब्धि होती है। इसके कारण - **धारणासु च योग्यता मनसः ।** (योगदर्शनम् २.५३) मन धारणा - जो

समाधि का प्रवेश द्वार है - में स्थिर हाने लगता है। धारणा यदि लग जाए तो वह ध्यान में बदल जाती है। इसी में जब घनीभूत एकाग्रता होती है तब समाधि लगने लगती है। और जब पूर्ण शून्य अवस्था आती तो निरोध समाधि लगती है। एकात्म भाव की अनुभूति होती है। विराट् का बोध - निर्विकार का बोध - प्राप्त होता है। सर्वात्म की प्राप्ति होती है।

समाधि भी संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात रूप में दो प्रकार की होती है। समाधि का आरम्भ संप्रज्ञात समाधि द्वारा होता है, जहाँ साधक को अपना पूर्ण ज्ञान (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का) बना रहता है। समाधि की गहराई बढ़ने पर परम अथवा असंप्रज्ञात या निरोध समाधि प्राप्त होती है। और यहीं से साधना की यात्रा आरंभ होती है।

इस साधना के मार्ग में शारीरिक और मानसिक विघ्न भी आते हैं। कहा है- **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि।'** साधना के विघ्न- **'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। तत्प्रतिषेधार्थमेकत्वाभ्यासः।** (योग दर्शनम् १.३० व ३२) अर्थात् - ''व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व; चित्त के ये सब विक्षेप विघ्न माने गये हैं। इन सबके निवारणार्थ समेकित प्रयास करना चाहिए।'' इन विघ्नश्रृंखलाओं का निराकरण ईश्वर का स्मरण अथवा जप द्वारा होता है- **तज्जपस्तदर्थ भावनम्।** (योगदर्शनम् १.२८) भावपूर्ण जप के द्वारा सभी विघ्न दूर होकर मन धारणा में स्थिर होने लगता है। धारणा ध्यान में और ध्यान समाधि में तथा समाधि निरोध में बदलकर पूर्ण अवस्था प्राप्त करते हैं।

यह ईश्वरत्व प्राप्ति का द्वार है। नियमित साधना यात्रा में कुछ चमत्कार भी प्रकट करती है। यह साधना के सही होने का प्रमाण है। सिद्धि की चकाचौंध में कई साधक भ्रमित हो, सिद्ध बनकर साधना का मार्ग छोड़ देते हैं। जो अन्ततः उन्हीं के लिये अनिष्टकारी होता है। इन्हें समाधि में विघ्न भी माना गया है- **'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'** (योग दर्शनम् ३.३७)

समाधि की अवस्था में संचित कर्म दृश्य के रूप में प्रकट होकर दग्ध होते जाते हैं। उनकी निर्जरा अनुत्पादक अवस्था बन जाती है और वे निष्फल हो जाते हैं। कर्म के स्वरूप एवं परिणाम को समझकर चिर अभ्यास द्वारा साधक निष्काम कर्म तथा समता का स्वंभाव प्राप्त कर लेता है। फिर कर्म करते हुए भी उनका फल नहीं बनता। क्लेश आदि कर्म से मुक्त

होकर वह परम शुद्ध हो जाता है और ईश्वर तुल्य हो जाता है। जैसे-जैसे साधना बढ़ती पात्रतानुसार ईश्वर की शक्तियाँ सिद्धि के रूप में प्रकट होने लगती हैं। चाहे उनका उपयोग न करे पर साधक सिद्ध होकर सर्वशक्तिमान ईश्वरवत् हो जाता है। ईश्वर तत्त्व की व्याख्या योग में इस प्रकार की गयी है- ''**क्लेशकर्मविपाकाषयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:।**'' (योगदर्शनम् १.२४) अर्थात् ''जो साधक क्लेश, कर्म, विपाक (उनके फल) एवं आशय से मुक्त हो गया है; वही ईश्वर है।''

इस प्रकार यह साधना नर को नारायण बनाने की साधना है। जो सभी प्रकार के दु:खों का अन्तिम और अचूक उपाय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ - योग क्या है - में आचार्य श्री गिरीश ''गोवर्द्धन'' जी ने योग एवं जीवन के विविध रूपों की व्याख्या की है। जो मौलिक है। इसके अध्ययन से योग का सर्वाङ्ग ज्ञान प्राप्त हो जाएगा, जो हमारा लक्ष्य भी है। सरलतम रूप में गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में गिरीशजी सिद्धहस्त हैं। प्रत्येक योगसाधक को यह ग्रन्थ मनोयोगपूर्वक पढ़ना एवं मनन करना चाहिए। इससे उत्तम और सरल योग की व्याख्या दुर्लभ है।

मैं इस रचना के व्यापक प्रसार की कामना करता हूँ। ताकि योगमार्ग में फैली भ्रान्तियों का निराकरण हो एवं साधना का सन्मार्ग सबके लिये सुलभ हो सके। किं बहुना। इति शम्।ॐ।

पं. वासुदेव त्रिपाठी
प्राचार्य व योगाचार्य
हरि ॐ योग महाविद्यालय,
(नेहरु स्टेडियम)
इन्दौर, म.प्र.

३०५, साँईकृपा कालोनी,
(रिंग रोड़ बाम्बे हॉस्पिटल चौराहे से)
इन्दौर (म.प्र.), पिन- ४५२०१०

अभिमत बनाम सार-संकेत

श्री गिरीश चौबे 'गोवर्द्धन' की लघु किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति **'योग क्या है?'** को गंभीरतापूर्वक पढ़ने का सुअवसर मुझे मिला। कृति अत्यन्त गवेशणात्मक एवं विष्लेषणात्मक है। **'योग'** पर भारत में व अन्यत्र पर्याप्त लिखा गया है। पर इनके कथ्य बड़े विविधापूर्ण रहे हैं और योग विषयक विभिन्न धारणाओं की समन्वयात्मक पृष्ठभूमि प्रस्तुत नहीं करते। भारत विभिन्न मत-सम्प्रदायों, दर्शनों एवं अनुभूतियों का देश रहा है, इस कारण ऐसा होना सहज ही है। कठिनाई तब होती है जब कुछ साधु- संन्यासी, चिंतक एवं सम्प्रदाय योग की अपनी-अपनी व्याख्या करने लगते हैं। वर्तमान में सबसे बड़ा संकट यह है कि विभिन्न आसनों एवं व्यायाम- पद्धतियों को योग का नाम दे दिया जा रहा है और योग विषयक चित्तवृत्ति- निरोध एवं आत्मानुभूति जैसे मूल तत्त्वों को दरकिनार किया जा रहा है। इन विविधापूर्ण धारणाओं के माया-जाल में योग की मूल आधारशिलाओं को लुप्त-सुप्त होने का खतरा बढ़ गया है, एक विचित्र दिशा-भ्रम लोकप्रियता एवं व्यावसायिकता के छद्म में प्रचारित-प्रसारित किया जा रहा है।

ऐसी स्थिति में विद्वान् लेखक एवं चिंतक श्री गिरीश चौबे 'गोवर्द्धन' वह लघु पुस्तिका लेकर सामने आये। इस लघु पुस्तिका की गागर में उन्होंने योग का

सागर भरने का श्लाघनीय प्रयास किया है। इस कृति को उन्होंने वेदों, उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता, पतंजलि योग-दर्शन आदि मूल ग्रन्थों के उद्धरणों से सम्पृक्त कर भारतीय मनीषा की योग विषयक मूल दृष्टि को रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है। लेखक से कुछ ऐसी ही अपेक्षा थी, जो उन्होंने पूरी निष्ठा एवं तन्मयता से पूर्ण की है। श्री चौबे को साधुवाद देना और उनसे और भी अपेक्षा रखना हमारा कर्तव्य है।

डॉ. श्यामसुन्दर निगम
निदेशक,
श्री कावेरी शोध संस्थान

समर्पण, 14, केशव नगर,
उज्जैन, म.प्र. पिन- 456010

अभिमत

वैदिक धर्म-दर्शन की योग एक अमुल्य देन है। भारतीय दर्शन- शास्त्रियों की विहंगम दृष्टि और अनुभूति का यह एक अनूठा आलेख है जिसमें समग्रता का अद्‌भुत बोध समाया हुआ है। समस्त षड्‌दर्शन पृथक्-पृथक् होकर भी एक दूसरे के परिपोषक, प्रतिपादक, पूरक एवं समर्थक ही हैं, कहीं कोई अन्तर्विरोध झलकता भी नहीं। भारतीय दर्शन के इन्हीं वेदों, उपनिषदों, स्मृतिग्रन्थों तथा इनके अंगउपांगों में यत्र-तत्र संदर्भानुकूल योग को परिभाषित एवं व्याख्यायित किया गया है। इन्हीं को आधार बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ में उसे सरलता से समझाने का प्रयास किया गया है।

योग जैसे विषद् विषय पर अद्देव अनेकानेक विद्वज्जन् अपनी लेखनीं का प्रताप दिखा चुके हैं, जिनमें कई उद्‌भट् दर्शनशास्त्री एवं अनेक योग पथ के पथिक हुए हैं, लेकिन यह विषय मानों तब भी अभिव्यक्ति की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सका है। युगों-युगों से इस पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन की अनवरत धारा प्रवाहित होती रही है जो वेदों, उपनिषदों के समय से अद्देव सतत् प्रवाहित है। वेद-द्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रदत्त यह दृष्टिबोध इतना बहुआयामी और अनन्त विस्तार वाला है कि यदि सुमेरू पर्वत की कलम बनाकर और सागर की स्याही बनाकर भी इसका बखान करना संभव नहीं। तथापि एक योगनिष्ठ साधक का यह सत्कार्य विषय में प्रवेश करने वाले जिज्ञासु पाठकों के हितार्थ एक स्तूत्य प्रयास है।

योग के शब्दार्थ से प्रवेश कर उसके निहितार्थ एवं उसके गूढ़ार्थ तक पैठ करने का प्रस्तुत ग्रन्थ में सार्थक एवं अद्‌भूत प्रयास किया गया है। सृष्टि के बीज से आत्मानुभूति तक जीवनयात्रा का पथ प्रशस्त करने वाला यह पथ प्रदर्शक है। वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, योगदर्शन् ग्रन्थ एवं संतवाणी की प्रामाणिकता के साथ इसमें अनुभूतियों का संयोग होने से प्रस्तुत ग्रन्थ साधकवृंद के लिये एक प्रामाणिक एवं प्रेरक आलेख सिद्ध होगा। अष्टाँगयोग की अवधारणा के साथ गीतोपदेश के व्यवहारिक संदेश इस ग्रन्थ में चुन-चुनकर अनमोल रत्नों की भाँति जोड़े गये हैं, जिन्होंने इस दार्शनिक ग्रन्थ को प्र्याप्त रोचकता भी प्रदान की है ।

योग मार्ग के पथिक इस लघुकाय सारमय ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों, ऐसी मंगल कामना है । इति । हरि ॐ ।।

चन्द्रशेखर आजाद
''योगनिष्ठ''

योग मित्र मण्डल,
उषागंज, इन्दौर.

लेखकीय....

नदी का एक ही लक्ष्य होता है, सागर को प्राप्त कर लेना। समुद्र की अथाह जल राशि में मिलकर अपने नाम और रूप से रहित हो जाना। सागर से मिलकर स्वयं सागररूप हो जाना। नदी की यह यात्रा अपने एकलस्वरूप में नहीं अपितु अन्य नदियों में प्रवाहित जलराशि के साथ अपनी संलग्नता को प्राप्त कर लेने पर ही संभव हो पाती है। गंगा नदी के समुद्र से मिलन स्थल को 'गंगा सागर' कहा जाना इसी एक अवस्था को सूचित करता है। गंगा नदी का स्वयं सागर बन जाना सूचित करता है। सर्वजन हित में इस एकमेव वस्तुस्थिति को प्रकट् करता है। सागर की चाह में नदी द्वारा अकेले यात्रा आरम्भ करना तो अपने अस्तित्व को खो देना होता है, जिस प्रकार कि वेदों में वर्णित सरस्वती नदी अपने एकल यात्रापथ को अपनाकर पष्चिम के रेतिले रेगिस्तान में भटककर लुप्त हो जाना जानी जाती है। जल की विपुल मात्रा को धारण करके भी अपनी यात्रा की अपूर्णता को प्राप्त करती है।

अत: अपने पुरुषरूप (स्त्री-पुरुष रूप) में उस विराट् पुरुष को प्राप्त करने हेतु आवष्यक है कि स्वयं के द्वारा अपने एकल स्वरूप में नहीं अपितु अन्य सबको उस परमात्मा का प्रकट्रूप होना जानकर जीवन-यात्रा को पूर्ण किया जावे। महत्रूप को अपनाकर योगयात्रा पूर्ण की जावे। सागररूपी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु कई नदियों के जल द्वारा प्राप्त किये जाने वाले अपने एकरूप समेकित स्वरूप की भाँति विचारों की पृथक्ता को नहीं अपितु एकरूपता को अपनाकर जीवनयात्रा को पूर्ण किया जावे और लक्ष्यरूप में उस अविनाशी परमात्मा का सानिध्य प्राप्त कर लिया जावे। स्वयं की लय अवस्था को प्राप्त कर लिया जावे। जल रूपी जीवात्मा के उद्गम बिन्दु सागर को ही प्राप्त कर लिया जावे। इस मनुष्य देहरूप में स्थित अतिसूक्ष्म जीवात्मा द्वारा अपने मूल आत्मस्वरूप को पुन: प्राप्तकर लिया जावे।

इस जीवजगत् में यह मानवदेहधारी पुरुष भी नदी रूप ही है। नदी में सतत् प्रवाहित होने वाली जलराशि के समान यह भी विचारों के सतत् प्रवाह को धारण करने वाला जाना जाता है। अपनाये गये सतत् विचारप्रवाह के आधार पर ही यह अपनी जीवन्त अवस्था या पृथक् जीवन-धारा को धारण करने वाला होता है। किन्तु उसकी यह विचार पृथक्ता अपने एकल स्वरूप में काल की अनन्तयात्रा को पूर्ण करने में सदैव ही असमर्थ रहती है। अत: आवष्यक है कि सागररूपी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु या विराट्रूप परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करने हेतु एकरूप समेकित प्रयास को अपनाया जावे। जल की निर्मलता और एकरूपता की भाँति परस्पर विचारों की निर्मलता एवं एकरूपता को अपनाकर सब मनुष्यों द्वारा एकत्व को धारण कर लिया जावे। उस परमेष्वर को प्राप्त करने का 'योग मार्ग' इसी एकत्व पर आधारित होना जाना गया है। यह सबको ही अपने गंतव्य की ओर ले जाने वाला और जीवन-यात्रा के

अन्तिम बिन्दु को प्राप्त कराने वाला है। यह स्वधाम की ओर ले जाने वाला है।

हम अपने नाना वर्ण, नाना जाति, नाना सम्प्रदाय, स्थान और वर्गभेद या लिंग रूप में धारण की गयी पृथक्ता के बीच एकत्व को अपनाकर अपने गंतव्य को प्राप्त करने वाले हो जावें। जिस बिन्दु से इस देह-रूप धारी जीवात्मा द्वारा अपनी जीवनयात्रा आरम्भ की गयी थी उस बिन्दु या उस छोर या उस परमात्म तत्तव को ही पुन: प्राप्त करने वाले हो जावें। इस योगयात्रा का यह चिरमार्ग ही अन्त:स्थ पुरुष के प्रसादस्वरूप इस लघुकृति में अभिव्यक्ति का विषय बना है। यह सबके लिये उपयोगी एवं जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक है। उपनिषद् वाणी में श्रुति का कथन है कि "वह अमृतस्वरूप विश्वरूप परमात्मा सबका अन्तर्यामी (तन्मय) होकर सब में स्थित है। वह सर्वज्ञ है। वह सर्वत्र उपस्थित है। वह इस सकल भुवन (ब्रह्माण्ड) का रक्षक है। वह जो सर्वदा इस सम्पूर्ण जगत् का शासन करने वाला है; क्योंकि इस आत्मा (परमात्मा) का शासन करने में कोई अन्य समर्थ नहीं है।" :-

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञ: सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय।।

।। श्वेता. उप. 6.17।।

कालचक्र के अक्षय युग परिवर्तनकारी अवसर पर सम्पूर्ण भुवन के शासनकर्ता उस सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, हृदयस्थ परमात्म तत्तव से अपनी सायुज्यता को प्राप्त करने का चिरमार्ग ही इस कृति में प्रकट् है। यह सबके लिये उपयोगी एवं सर्वहितकारी है।

गीतावाणी कथन करती है कि 'योगमार्ग' को अपनाकर यह जीवात्मा कभी भी अपने विनाश को प्राप्त करता नहीं है, और न वह दुर्गति को ही प्राप्त होता है- **न हि कल्याणकृत्कष्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।**' (गीता 6.40) वह तो अवसर आने पर अपने 'जीवनलक्ष्य' को ही प्राप्त करने वाला हो जाता है। हम सब अपने 'जीवनलक्ष्य' को प्राप्त करने वाले हो जावें, ऐसा ही अवसर इस सृष्टिचक्र में एक बार पुन: आना आत्मस्थ प्रभु के प्रसादस्वरूप जाना गया है। और, इस अवसर पर यह योगमार्ग इस कृति में पुन: सबके लिये प्रकट् हो गया है। संतवाणी इस जीवात्मा को जलरूप होना तथा इसका अस्तित्व जल के मध्य स्थित घट की भाँति पृथक्ता को धारण करने वाला किन्तु पृथक्ता से रहित होना कथन करती है। उपनिषद्वाणी में श्रुति इस अविनाशी जीवात्मा को पाँचवीं आहूति में जलरूप से पुरुष रूप में प्रकट् होना वर्णन करती है। (बृह.उप. 6.2.1 से 15 एवं छा.उप. अध्याय 5 खण्ड 3 से 10) कल्प आधारित जन्मयात्रा-चक्र में पुरुषरूप को प्राप्त कर लेना ही जन्मयात्रा का अन्तिम सोपान होना वर्णन करती है। अत: सृष्टि-सृजनकर्ता सर्वरूप उस परमदेव को जानकर हम अपने विचार की निर्मलता एवं एकरूपता को प्राप्त करें, यह समय की आवश्यकता है। इस अवसर पर अन्त:स्थ पुरुष के प्रसादस्वरूप प्राचीन आर्षग्रन्थों में समस्त ब्रह्मज्ञ ऋषियों

द्वारा छन्दों के गानरूप में उपयोग किये गये 'कूट-शब्द' ('सूत्र-शब्द') - **'एक:, एका, एकम्, दश, शत एवं सहस्र'** - शब्द के गूढ़ार्थ रूपमें विश्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर हमारी अक्षय काल (पुरुष) के सम्बन्ध में की गयी सभी कालगणनाएँ मिथ्या प्रकट् हो जाती हैं। अत: **काल: कलयतामहम्** रूपमें (गीता 10.30) इन सूत्र-शब्दों के गूढ़ार्थ द्वारा विश्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष प्राप्तकर तथा पुराणोक्त कथन **'पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते'** (वायु पुराण) आधार पर स्वयं को ही उस परमात्मा का प्रकट् पुरुषरूप होना जानकर हम सब सहधर्मिता को धारण करें; बाह्य जगत् में जिस प्रकार सूर्य आलस्य को न अपनाकर अहर्निश कर्मरत अवस्था को धारण करता है, उसी प्रकार हम देहस्थ सूर्यरूप आत्मा को प्राप्तकर कर्मरत अवस्था को धारण करें और कर्म की निर्मलता द्वारा उस परमदेव से अपनी सायुज्यता (एकात्मता) को धारणकर इस दुर्दम्यजगत् में दु:खरहित अवस्था को धारण करें और इस जीवनयात्रा को पूर्ण कर हम उस विराट्पुरुष में यहीं पर संविलियन प्राप्त करें; यही इस लघु कृति का रस है; प्रतिपाद्य है।

परम आदरणीय पं. वासुदेव त्रिपाठी, प्राचार्य एवं योगाचार्य, हरि ॐ योग महाविद्यालय, (नेहरु स्टेडियम) इन्दौर, द्वारा इस लघुकृति के प्रति अपना आशीर्वाद 'प्राक्कथन्' रूप में प्रदान किया है। अत: मैं उनके प्रति आभारी हूँ। मैं आभारी हूँ योगाचार्य श्री चन्द्रशेखर आजाद 'योगनिष्ठ', योग मित्र मण्डल, इन्दौर के प्रति जिन्होंने इस कृति का पूर्वावलोकन कर अपना अभिमत व्यक्त किया है। मैं आभारी हूँ इतिहास पुराविद् डॉ. श्यामसुन्दर निगम, निदेशक, श्रीकावेरी शोध संस्थान, उज्जैन के प्रति जिन्होंने अपनी अतिव्यस्तता के बीच इस कृति का अवलोकन कर इस पर अपना सारमय उद्गार प्रकट् किया है। और मैं आभारी हूँ इस शब्दयात्रा को मूर्तरूप प्रदानकर्ता छाजेड़ प्रिंटरी रतलाम के निदेशक श्री सुशील छाजेड़ के प्रति, जिनका सतत् सहयोग इस शब्दयात्रा को पूर्ण करने हेतु प्राप्त हुआ है।

यह लघुकृति सबके लिये उपयोगी हो जावे, यह सबको ही योगमार्ग का सच्चा पथिक बनाने वाली बन जावे और यह योग-मार्ग में आयी भ्रान्तियों को नष्ट करे; उस परमेष्वर से यही एक प्रार्थना है।

इस अवसर पर मैं पुन: यही कहना चाहूँगा कि - **'तोमार इच्छा पूर्ण हउक करुणामय स्वामी।'** इति। हरि ॐ तत्सत्॥

श्री सद्गुरु की सेवा में
गिरीश **'गोवर्द्धन'**

गुरु पूर्णिमा,

शुक्रवार, १५ जुलाई २०११।

३७, क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान,

उज्जैन., म.प्र. पिन- ४५६०१०

योग क्या है ?
(एक विवेचन)

'योग' बहुप्रचलित शब्द है। यह पुरातन काल से ही भारतभूमि पर अपना अस्तित्व धारण करता हुआ चला आ रहा है। किन्तु इस समय यह सम्पूर्ण विश्व धरातल पर अपने प्रचार-प्रसार को प्राप्त है। वर्तमान काल में 'योग' शब्द का अर्थ हमारे द्वारा शारीरिक क्रिया रूप में कुछ आसन करने या श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया पर आधारित विभिन्न प्राणायाम करने, या इन दोनों ही क्रियाओं के साथ-साथ कुछ देरी के लिये ध्यान-साधना करने तक सीमित मान लिया गया है। किन्तु यह अर्थ और ये सब क्रियाएँ 'योग' शब्द के प्रतिपाद्य को पूर्ण रूप में प्रकट करती नहीं हैं। ये सब क्रियाएँ तो साधन स्वरूप होती हैं, साध्य नहीं। जबकि 'योग' शब्द साधनरूप है और साध्य भी।

योग क्या है ? - तं विद्यात्

२. 'योग' शब्द स्थिति वाचक है। यह दो या दो से अधिक भिन्न अस्तित्व द्वारा परस्पर लय अवस्था अथवा एकत्व को प्राप्त कर लेना प्रकट् करता है। योग शब्द की व्युत्पत्ति यज् धातु से होना जानी गयी है। देववाणी संस्कृत के भाषा विज्ञान में 'यज्' धातु जुड़ने अथवा समाहित होने की सूचक है। अत: योग शब्द इस पुरुषदेह में स्थित अंशरूप जीवात्मा द्वारा परम अक्षर पुरुष आत्मा या विराट्रूप परम पुरुष परमात्मा से प्राप्त की गयी सायुज्ता, एकता अथवा लय अवस्था को प्रकट् करने वाला होता है। यह इस मानवदेह में स्थित अंशरूप जीवात्मा द्वारा देहरूप से आबद्ध अवस्था में स्वयं के द्वारा धारण की गयी पृथक् अवस्था के लय के साथ ही प्राप्त गुणात्मक परिवर्धन को प्रकट करने वाला जाना जाता है। यह मानवमात्र

द्वारा धारण की गयी अपनी पृथक् अवस्था के लय और प्राप्त किये गये गुणात्मक परिवर्धन को प्रकट् करने वाला होता है।

२.१ 'योग' की इस परिवर्धित अवस्था को 'गणित शास्त्र' के पारिभाषिक शब्द 'योग' की सहायता से भलिभाँति जाना जा सकता है। गणित शास्त्र में किन्हीं दो या दो से अधिक संख्याओं को परस्पर जोड़नें की क्रिया को 'योग करना' तथा इस क्रिया के फलस्वरूप जो नवीन संख्या प्राप्त होती है उसे उन संख्याओं का 'योग' कहा गया है। इस प्रकार 'योग' रूप में प्राप्त होने वाली यह नवीन संख्या (अवस्था) सदैव ही संयुक्त की गयी संख्याओं को लय अवस्था प्रदान करती हुई उनके समेकित एवं परिवर्धित स्वरूप को प्रकट करने वाली होती है। उनका यह परिवर्धित संयुक्तस्वरूप, उन संख्याओं द्वारा धारण किये गये अपने स्वमूल्य से सदैव ही अधिक या कई गुना अधिक होता है। इस प्रकार यह 'योग' शब्द दो या दो से अधिक भिन्न अस्तित्व के परस्पर जुड़ने की क्रिया पर आधारित होकर, उनकी पृथक् अवस्था के लय रूप में प्राप्त परिवर्धित संयुक्त अवस्था या स्थिति को प्रकट करने वाला होता है। पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूप में मानवदेह को प्राप्त कर यह देहस्थ आत्मा, अपनी पूर्णता को धारण करता हुआ भी देहरूप आधार पर पृथक् अस्तित्व में जाना जाता है। यह पुरुषरूप की पृथक्ता को धारण करने वाला होता है। अत: स्वयं के पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूप में मानवदेह में निवास करते हुए विराट्रूप परम अक्षर तत्व आत्मा या परम पुरुष परमात्मा से अपनी सायुज्यता को धारण करते हुए पृथक् भाव का लोप हो जाना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करना कहा गया है। जिसे प्रकट् करते हुए गीतावाणी कथन करती है कि ''जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सर्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।'' (गीता १३.३०) वह योग रूपी योगावस्था को प्राप्त कर लेता है।

२.२ स्वयं के पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूप में स्थित रहकर इस विराट्रूप अवस्था का बोध प्राप्त कर लेना ही 'योग यात्रा' का एकमेव लक्ष्य होता है। उपनिषद् वाणी का कथन है कि 'जो विराट् है, वही सुख प्राप्ति का आधार है, अल्प में सुख नहीं है- **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'** (छा.उप. ७.२३.१) अत: धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के क्षेत्र में यह योग शब्द मानवमात्र के देहरूप में स्थित अंशरूप जीवात्मा द्वारा अपने विराट्रूप आत्मतत्त्व को प्राप्त करना या इस आत्मतत्त्व से प्राप्त की गयी सायुज्यता के आधार पर, सुख की प्राप्ति को प्रकट करने वाला होता है तथा इसी आधार पर 'योग' को दु:खों का नाश करने वाला - **'दु:खहा'**

(गीता ६.१७) जाना जाता है। इस प्रकार यह अंश रूप में इस जीवात्मा द्वारा धारण की गयी अपनी पृथक् अवस्था के लय तथा विराट्रूप आत्मतत्त्व से प्राप्त की गयी एकात्मता के आधार पर सुखप्राप्ति की अक्षय अवस्था को प्रकट करने वाला होता है- **सुखमक्षयमश्नुते।** (गीता ५.२१) अत: यही कारण है कि 'योग' शब्द को सुखप्राप्ति के पर्याय रूप में भी जाना गया है। योगीपुरुष की मन:स्थिति को आनन्द से परिपूर्ण आप्तकाम और आत्मकाम होना कहा गया है। तथा योगावस्था को स्वयं साधक व्यक्ति के साथ-साथ अन्य सब के लिये भी सुखप्रदाता अनुभव किया जाता है।

२.३ उपनिषद्वाणी कथन करती हैं कि एक अविनाशी आत्मा ही समस्त जीव-जगत् रूप में प्रकट होकर विराट् विश्वरूप को धारण करने वाला है- **'पुरुष एवेदं विश्वं।'** (मुण्ड.उप. २.१.१०) यह सकल जगत् अविनाशी आत्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। गीतावाणी में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण का कथन है कि ''इस जगत् में मुझ परमात्म तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सब कुछ सूत्र में पिरोयी गयी मणियों की भाँति मुझ में ही गुँथा हुआ है।'' (गीता ७.७) यह अविनाशी आत्मा अव्यय, स्थिर एवं अचल अवस्था को धारण करनेवाला होकर सर्वव्यापी है। योगीजन कथन करते हैं कि यह विराट्रूप आत्मा ही सबका नियमन करने वाला और सबकी रक्षा करने वाला गुरुतत्त्व स्वरूप है। यह 'अखण्डमण्डलाकार' अवस्था को धारण करने वाला है। वेदवाणी में इसे ही अग्निपुरुष रूप में मानवमात्र को सन्मार्ग पर ले जाने वाला जाना गया है- **ॐ अग्ने नय सुपथा राये।** (ऋग्वेद १.१८९.१, यजुर्वेद ५.३६, ७.४३ एवं ४०.१६) मानवदेह में स्थित रहकर यह पुरुषतत्त्व रूपी आत्मा अविभाज्य (= अच्युत) अवस्था को धारण करता है। अत: मनुष्यरूप में इस जीवात्मा के पृथकभाव का लोप होकर विराटरूप परम अक्षरतत्त्व आत्मा या परम पुरुष परमात्मा से एकत्व का भावबोध प्राप्त कर लेना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना है।

यह समस्त चर-अचर जीव-जगत् नाशवान अवस्था को धारण करता हुआ अव्यय आत्मा का प्रकटरूप है। अत: बहिर्मुख चित्तवृत्ति का परित्याग करते हुए आत्माभिमुख अवस्था को अपनाकर एकत्व का भावबोध धारण कर लेना ही योगावस्था को प्राप्त करना हो जाता है। इस प्रकार जब कोई स्वयं को पृथक् होना एवं ईश्वरतत्त्व आत्माको पृथक् होना मानता अथवा जानता है, तो वह योगावस्था को प्राप्त नहीं करता, अपितु संख्यात्मक रूप में अपनी पृथक् अवस्था को धारण करनेवाला एवं कर्मबन्धन को अपनाने वाला होता है। योग या योगावस्था द्वैतभाव को नहीं अपितु एकात्मक स्वरूप को प्रकट करने वाली होती है, जिसे गीतावाणी में

ब्रह्मभाव को प्राप्त करना कहा गया है। अत: जहाँ द्वैतभाव है; अर्थात् ''यह जीवात्मा अलग है और वह परमात्मा अलग है'' इस मनोभाव को या बहुदेववाद को अपनाया गया है, वहाँ योगावस्था का सर्वथा अभाव होना जाना जाता है। पृथक्ता के इस भाव को ही श्रुति द्वारा पुनर्जन्म का कारण होना कथन किया गया है - **मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।** (कठ.उप. २.१.११) अर्थात् ''जो इस जगत् में नाना की भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् वह पुनर्जन्म को प्राप्त करता है।'' अत: एकात्मभाव को अपनाना ही कैवल्यभाव या परमसिद्धि को प्राप्त करने में सहायक होता है।

२.४ श्रीमद्भगवद्गीता में मानवदेह को अव्यय आत्मा द्वारा धारण किया गया बाह्यकलेवर या वस्त्ररूपी आवरण होना वर्णन किया गया है। (गीता ८.४ व ५) तथा कथन किया गया है कि ''जिस प्रकार कोई पुरुष (स्त्री-पुरुष) अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण हुए वस्त्र का परित्याग करता हुआ नवीन वस्त्र को धारण करता है; उसी प्रकार यह अनश्वर आत्मा (जीवात्मा) अपने द्वारा धारण किये गये पुराने देहरूपी आवरण का परित्याग करता हुआ, (पुनर्जन्म को प्राप्त कर) नवीन देह को वस्त्र (बाह्य कलेवर) रूप में धारण करता है। (गीता २.२२) इस प्रकार देहरूप में धारण किया गया यह बाह्यकलेवर ही जीवत्मा की देहरूप से आबद्ध अवस्था में स्वयं की पृथक्ता को धारण करने या अनुभव करने का एकमेव कारण होता है। अत: मन:चक्षु द्वारा समस्त जीव-जगत् (समस्त भूतसमुदाय) में देहरूपी आवरण से परे, उस एक परमात्मा को उपस्थित देखना, सबको उसका प्रकट्रूप मानकर सब के प्रति स्नेहमय आचरण को अपनाना, परस्पर घृणा, ईर्ष्या और राग-द्वेष रहित हो जाना तथा विराट् की अनुभूति से परिपूर्ण मन:चेतना द्वारा सर्वरूप में आत्मभाव को प्राप्त कर लेना ही 'योग यात्रा' का एकमेव गंतव्य होता है।

इस प्रकार योग शब्द इस पुरुष देहरूप में स्थित अजर, अमर, अनश्वर, अव्यय, आत्मा (जीवात्मा) द्वारा अपने देहरूप से परे उस निराकार, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, सर्वरूप, परम अक्षरपुरुष परमात्मा से प्राप्त की गयी धातुरूप एकरूपता, या सायुज्यता, या समानधर्मा अवस्था ही 'योग' अथवा 'योगावस्था' रूप में जानी गयी है। या यों कहें कि अपने अंशरूप में आत्मतत्त्व के विराट्रूप का बोध प्राप्त कर लेना या स्वआत्मस्वरूप के विराट्रूप को प्राप्त कर लेना ही योग है। अत: 'योग' शब्द इस पुरुषरूप मानवदेह में स्थित जीवात्मा द्वारा धारण की गयी अपनी पृथक् अवस्था के भावबोध का लोप हो जाने के साथ ही अपने अनश्वर, अव्यय, आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करते हुए, अक्षरस्वरूप, विराट्रूप, परमपुरुष परमात्मा से

प्राप्त की गयी सायुज्यता अथवा एकात्मता के आधार पर स्वयं के द्वारा प्राप्त की गयी गुणात्मक परिवर्धित अवस्था को धारण एवं प्रकट् करने वाला हो गया है। 'योग' शब्द का यह सामान्य अर्थ ही इसके धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करने वाला होता है। अत: अध्यात्म जगत् में 'योग' शब्द का यह एकमेव अर्थ होना ही सर्वमान्य है।

२.५ उपनिषद्वाणी में श्रुति का कथन है कि वह प्रकाशरूप परमात्मा अपनी तेजोमय, स्वर्णिम, आदित्यरूप अवस्था- **'रवितुल्यरूप:'** (श्वेता. उप. ५.८) को धारण करता हुआ, सब मनुष्यों के हृदय में निवास करनेवाला है- **'अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संन्निविष्ट:।'** (कठ.उप. २.३.१७ एवं श्वेता.उप. ३.१३) इस प्रकाशरूप को देख लेना या इस पुरुषतत्त्व का बोध प्राप्त कर लेना ही मनुष्य रूप में योगावस्था को प्राप्त कर लेना है, जिसे श्रुति द्वारा परम समता को प्राप्त कर लेना कहा गया है- **परमं साम्यमुपैति।** (मुण्ड.उप. ३.१.३) सर्वरूप में प्रकट् होकर तथा सब में स्थित रहकर भी वह प्रकाशरूप परमात्मा समस्त पुरुष रूप में अपनी पृथक्-पृथक् पूर्णता को धारण करता है तथा इन सबसे पृथक् होकर अपनी पूर्णता को धारण कर स्थित बना रहता है- **पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।** (बृह.उप. ५.१.१) सर्व रूप में प्रकट् होकर, वह सब को ही धारण एवं पोषण करने वाला है। सब को धारण करने वाला होने से यह आत्मा ही धर्मरूप है। यही धर्म की गूढ़ता है। इस दृष्यजगत् में धर्म का यही प्रकट्रूप होता है- **धारणाद्धर्मम्त्याहु:।** उपनिषद् वाणी इस अतिसूक्ष्म आत्मा को ही धर्मरूप होना वर्णन करती है- **अणुरेष धर्म:।** (कठ.उप. १.१.२१) अत: समस्त भूतसमुदाय (जीव-जगत्) के प्रति आत्मभाव को अपना लेना ही धर्म का पालन करना है। धर्म में स्थित हो जाना है। धर्ममय जीवन व्यतीत करना है और इस मानवदेह में निवास करते हुए सबके प्रति राग-द्वेष, घृणा और ईर्ष्या आदि से रहित हो जाना ही धर्मरूप आत्मा को प्राप्त कर लेना है- **न ततो विजुगुप्सते।** (कठोपनिषद् २.१.५) यही योगावस्था को प्राप्त करने का परिणाम होता है; जिसे 'योग' अथवा 'योगावस्था' रूप में जाना गया है।

२.६ योग अथवा योगावस्था के परिणाम को प्रकट् करते हुए उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा वर्णन किया गया है कि-

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु: प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्ध: शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् २.१२ व १३ ॥

अर्थात् - ''इस योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस साधक पुरुष को न तो रोग होता है; न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अर्थात् वह ज्वर एवं जरारहित अवस्था को प्राप्त होकर 'इच्छा मृत्यु' को प्राप्त करने वाला हो जाता है।

योगीजन योग की प्रथम सिद्धि (प्राप्ति) शरीर में हल्कापन महसूस करना, आरोग्य को प्राप्त करना, विषयासक्ति से निवृत्ति प्राप्त करना, शारीरिक वर्ण की उज्ज्वल अवस्था धारण करना, वाणी की मधुरता अपना लेना, शरीर की सुवास (कर्म की ख्याति) प्राप्त करना तथा मल-मूत्र (भूख-प्यास) का अल्प हो जाना कथन करते हैं।''

इस योगावस्था (सिद्धावस्था) को प्राप्त कर लेने पर वह 'योगी पुरुष' जो कुछ चाहता है, उसको ही प्राप्त कर लेता है :-

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्व: कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांच कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकाम: ।।

॥ मुण्डकोपनिषद् ३.१.१० ॥

अर्थात् - ''विशुद्ध अन्त:करण वाला वह योगी पुरुष जिस-जिस लोक को मन से चिंतन करता है तथा जिन भोगों की कामना करता है; वह उन-उन लोकों को जीत लेता है तथा उन-उन भोगों को भी प्राप्त कर लेता है। अत: लौकिक ऐश्वर्य की कामना करनेवाले मनुष्य; ऐसे आत्मज्ञ पुरुष की सेवा-सुश्रुषा तथा अर्चना करें।'' और वह त्रिकालदर्शी अवस्था को प्राप्त कर लेता है :-

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिन: ॥

॥ श्रीमद्भागवत 10.61.21 ॥

अर्थात् - योगीजन भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें भलीभाँति जानते हैं। उनसे ऐसी बातें भी छिपी नहीं रहतीं जो इन्द्रियों से परे हैं, बहुत दूर हैं अथवा बीच में किसी वस्तु की आड़ होने के कारण दिखाई नहीं देती हैं।''

अर्थात् - ''जो प्राण के द्वारा चेष्टायुक्त नहीं होता अपितु जिससे प्राण चेष्टायुक्त होता है, उसको ही तू ब्रह्म जान। प्राणों की शक्ति से चेष्टायुक्त दीखने वाले जिस तत्त्व समुदाय की लोग उपासना करते हैं यह ब्रह्म नहीं है।''

२.७ इस प्रकार यह 'योग' शब्द विराट्रूप, सच्चिदानन्दस्वरूप, अव्यय आत्मा या परम

अक्षर पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर, उससे अपनी सायुज्यता को धारण करते हुए ज्वर, जरा एवं मृत्युभय से रहित; अमरता को प्राप्त, सर्वसुखमय, मनोकामनापूर्ण, जीवन-अवस्था को प्राप्त करना या दु:खरहित, अक्षयसुख से परिपूर्ण, आनन्दमय अवस्था को प्राप्त कर उसमें स्थित हो जाना सूचित करता है। इस योगावस्था को प्राप्त करके ही संत कबीर ने रसमय होकर गाया है- **हरि मरै तो हमहु मरिहै। हरि न मरै हम काहे मरिहै।।** (कबीर वाणी)

२.८ योग अथवा योगावस्था रूप में उस निराकार, निर्विकार, सर्वरूप, अविनाशी, अव्यय आत्मा या स्वयंप्रकाश परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त करना, सदैव ही एक अदृश्य अवस्था को प्राप्त करना होता है। अत: देहस्थ आत्मा (जीवात्मा) द्वारा प्राप्त की गयी इस योगावस्था को या स्वयं के द्वारा प्राप्त की गयी इस अनुभूति और इसके परिणाम को जागतिक धरातल पर यथारूप प्रकट् करना सदैव ही रहस्य से परिपूर्ण एवं आश्चर्य से भरा कार्य होता है। अत: गीतावाणी वर्णन करती है कि -

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

॥ गीता २.२९ ॥

- ''कोई मनुष्य इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है और वैसे ही कोई अन्य दूसरा ही इस आत्मा का आश्चर्यवत् कथन करता है और कोई अन्य दूसरा आश्चर्य की भाँति इसे सुनता है और कोई सुनकर भी इसे जान नहीं पाता है।''

इस प्रकार इस अव्यय आत्मा को देखना; स्वर्णिम तेजोमय प्रकाशरूप में इसका साक्षात्कार करना; 'लक्ष्य से लगे हुए तीर' की भाँति इस अविनाशी आत्मा को प्राप्त करना; इस दिव्य अनुभूति को (अर्थात् साक्षात्कार की इस आह्लादपूर्ण भयमिश्रित भौचक्क आनन्दमय अवस्था को) शब्दरूप में वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करना; और इस 'शब्दब्रह्म स्वरूप' प्रकाशरूप आत्मा को शब्द रूप में आश्चर्य की भाँति सुनना और सुनकर भी इसे नहीं जान पाना; यह सब कुछ आश्चर्य की भाँति होता है।

इस आत्मा को वाणी के द्वारा सुनकर, स्वयं के द्वारा हृदयगुहा में प्रविष्ट होकर स्वयं ('शब्द ब्रह्म' रूपमें) सुन लेना और नहीं सुन पाने की इस अवस्था को कठोपनिषद् में नचिकेता द्वारा प्राप्त की गयी 'अग्निविद्या' के आख्यान द्वारा भलीभाँति जाना जा सकता है। नचिकेता द्वारा मृत्यु के देवता यमराज से अग्निविद्या का उपदेश **'एकेनैव कथितं एकेनैव श्रुतम्'**

अवस्था में स्वयं के द्वारा सुनकर इसे पुनः उपदेशकर्ता यमराज को सुनाया गया है- **स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तम्** (कठ.उप. १.१.१५) किन्तु इस सम्पूर्ण विवरण को पढ़-सुनकर भी हम अग्निपुरुष आत्मा से सम्बन्धित इस 'अग्नि विद्या' को जान नहीं पाते हैं। वही अवस्था इस आत्मा को सुनकर सुन लेने और नहीं सुन पाने की होती है। श्रुति इस आत्मा को प्राप्त करने (शब्द रूप में सुनने) हेतु व्यक्ति का प्रमादरहित होना आवश्यक मानती है जिसे श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ में **निर्मल मन जन से मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।** कहा गया है। अतः सद्आचरण को अपनाकर स्वचेतना की अन्तःप्रविष्ट अवस्था में इस शब्द स्वरूप आत्मा को चिदाकाश में गुँजता हुआ सुन लेना ही अग्निस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेना होता है। इस प्रकार यह 'योग' शब्द व्यवहार जगत् में अपने परिणाम को लेकर सदैव ही जिज्ञासा से परिपूर्ण अवस्था को धारण करने वाला बना रहता है। अतः गीतावाणी स्पष्ट करती है कि-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

।। गीता ६.२२ व २३ ।।

-"जिस आत्मा को प्राप्त करके योगी पुरुष अन्य किसी भी लाभ को उसकी अपेक्षा अधिक नहीं समझता (और) जिस आनन्दमय अवस्था में अवस्थित होकर योगी पुरुष भारी से भारी दुःख में भी विचलित नहीं होता है। 'दुःखसंयोग की (इस) वियोगरूपा अवस्था का नाम योग है;' उसको जानना चाहिए। वह योग न उकताये हुए, धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त के द्वारा निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।"

२.९ श्रुति परम अक्षरतत्त्व आत्मा या परम पुरुष परमात्मा को स्वयंप्रकाश अवस्था में तेजोमय होने के साथ-साथ रसमय होना, मुदितामय होना, सबका नियामक होना, निष्क्रिय अवस्था का परित्याग करते हुए सदैव ही चेष्टारत रहना, समस्त जीव-जगत् को चेष्टारत बनाये रखना, अपनी असङ्ग अवस्था में सबको ही धारण करना और सबका पोषण करनेवाला 'शक्तिपुंज' होना एवं सर्वरूप होना वर्णन करती है- **'पुरुष एवेदं सर्वं।'** (ऋग्वेद १०.९०.२) **'पुरुष एवेदं विश्वं।'** (मुण्ड. उप.२.१.१०) 'अश्वत्थ वृक्ष' रूप में इस अविनाशी आत्मा को अर्धमूल अवर्णनीय और सनातन होना कथन करती है- '**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखएषोऽश्वत्थः सनातनः।'** (कठ.उप.२.३.१) अतः योग अथवा

योगावस्था को प्राप्त करने का परिणाम मनुष्य रूप में धारण किये गये इन सब गुणों में अभिवृद्धि को प्राप्त करना या इन्हें अपने परिवर्धित स्वरूप में धारण करना होता है, जिसे **'ब्राह्मी अवस्था'** रूप में भी जाना गया है। चूंकि यह सकल विश्वरूप मानव समुदाय सदैव ही सद् एवं असद् वृत्ति को अपनाकर कर्मचेष्टा के उभयरूप को धारण करने वाला है। यह असद् वृत्ति को अपनाकर अधोगामी होता है तथा सद्वृत्ति को अपनाकर ही आत्मकल्याण रूपमें श्री, विजय, विभूति, ऐश्वर्य आदि को प्राप्त करता है। इस उभयरूप चित्तवृत्ति को अपनाकर ही यह सर्वरूप आत्मा देहरूप से आबद्ध अवस्था में आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपनी शत्रुरूप अवस्था को धारण करने वाला होता है- **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।** (गीता ६.५) अत: योगरूप में प्राप्त की जाने वाली सर्वरूप आत्मा की इस मित्र एवं शत्रुरूप अवस्था को अवश्य ही जानना चाहिए।

२.१० अपने आत्मा के इस मित्र एवं शत्रुरूप को किसी चुम्बकीय छड़ द्वारा अपनी एकल अवस्था में धारण की गयी 'उत्तरी ध्रुव' एवं 'दक्षिणी ध्रुव' अवस्था के आधार पर सहज ही जाना जा सकता है। सर्वरूप आत्मा द्वारा स्वयं के प्रति धारण की गयी इस मित्र एवं शत्रुरूप अवस्था को ही इस सूर्यरूप आत्मा (जीवात्मा) की 'उत्तरायण' एवं 'दक्षिणायन' अवस्था रूप में भी जाना गया है। उत्तरायण अवस्था को अपनाकर यह जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त करने वाला एवं दक्षिणायन अवस्था को अपनाकर यह पुन: लौटने वाला अर्थात् जन्मचक्र को अपनाने वाला होता है। इस उभयरूप अवस्था को ही देवयान् (देवमार्ग) एवं पितृयान् (पितृमार्ग) रूप में भी वर्णन किया गया है। जीवात्मा की इस उत्तरायण एवं दक्षिणायन अवस्था को ही उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा 'श्रेय मार्ग' एवं 'प्रेय मार्ग' रूप में प्रकट किया गया है तथा स्पष्ट किया गया है कि जो मन्दबुद्धि लोग हैं, वे ही परमकल्याण के साधन 'श्रेय' को छोड़कर, लौकिक योगक्षेम की आकाँक्षा में 'प्रेय' का वरण करते हैं। (कठ.उप. १.२.२) 'प्रेय' का वरण करके ही वे इस अविनाशी आत्मा के शत्रुभाव को प्राप्त करते हैं। प्रेय एवं श्रेय के इस चयन को ही जीवात्मा की अधोगामी एवं ऊर्ध्वमुख अवस्था भी कहा गया है। महाभारत कथा में वर्णन मिलता है कि दुर्योधन तथा अर्जुन दानों के द्वारा एक ही समय में द्वारिका पहुँचकर आत्मपुरुष श्रीकृष्ण से शौर्य सहायता प्राप्त की गयी है। श्रीकृष्ण द्वारा यह कहने पर कि 'एक ओर मैं स्वयं रहूँगा किन्तु मैं न तो शस्त्र धारण करूँगा और न ही युद्ध करूँगा तथा दूसरी ओर मेरी ग्यारह अक्षौहिणी वीर यादवों की अजेय नारायणी सेना रहेगी।' इस पर अर्जुन द्वारा नि:शस्त्र श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में माँग लिया गया तथा दुर्योधन द्वारा अपने पक्ष में वीर यादवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना को सहर्ष स्वीकार किया गया था।

सांकेतिक रूप में यह इसी आत्मरहस्य को उजागर करना है। इस प्रकार चन्द्रवंशमें उत्पन्न अर्जुन एवं दुर्योधन दोनों के द्वारा आत्मपुरुष श्रीकृष्ण से प्राप्त की गयी योगावस्था का यह परिणाम ही इस जीवात्मा की 'शुक्ल पक्ष' एवं 'कृष्ण पक्ष' अवस्था को प्रकट् करने वाला जाना गया है। यह अपने आत्मा के मित्र एवं शत्रु रूपको प्रकट् करने वाला प्रकट् है। इस प्रकार यदि हम योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करके भी दशेन्द्रियाँ एवं मन (कुल ग्यारह) की सहायता से भोगवृत्ति को अपनाकर इस जगत में संघर्षरत रहते हैं तो यह प्रेय को अपनाकर स्वयं की क्षय अवस्था को अपनाना है, सूर्यरूप आत्मा की दक्षिणायन अवस्था को प्राप्त करना है। जिस प्रकार की दुर्योधन द्वारा क्षय अवस्था (आत्मविनाश) को प्राप्त किया गया है। और, यदि हम पंच प्राण द्वारा प्राणोपासना को अपनाकर, प्रज्ञा की सहायता से, अहंकार आधारित भोगवृत्ति का परित्याग करते हुए अपने ही आत्मा का सानिध्य प्राप्त कर (इन कुल सात के द्वारा) उसके विराट्रूप का बोध प्राप्त कर इस संसार में जीवन व्यतीत करते हैं, तो यही सूर्यरूप आत्मा की उत्तरायण अवस्था को धारणकर जीवनचक्र की पूर्णता को प्राप्त कर लेना है। स्वयं के इस पुरुषरूप में श्री, विजय, विभूति, ऐश्वर्य आदि को प्राप्त करने हेतु अग्रसर होना है। यही स्वयं के द्वारा धारण की गयी इस पुरुषरूप मानवदेह की सार्थकता है। अन्यथा स्वयं की पुरुषरूप 'सोलह कला' अवस्था में क्षय को अपनाकर अधोगतिरूप निम्नयोनियों में पुन: एक नवीन जन्मचक्र को अपनाने हेतु विवश होना है। जिसे श्रुति द्वारा- **तत: सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।** (कठ.उप. 2.3.4) कहा गया है। अत: गीतावाणी में सद्गुरु श्रीकृष्ण का उपदेश है कि- 'दु:खसंयोग की वियोगरूप अवस्था जिसका नाम योग है', उस को ही भलीभाँति जानना चाहिए - **'तं विद्यात्'**।

मानवमात्र का प्रकट्रूप

३. श्रुति कथन **'पुरुष एवेदं सर्वं'** अथवा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** आधार पर यह पुरुषरूप जीवात्मा स्वयं भी ब्रह्मरूप ही है- **जीव ब्रह्मैव नापर:।** किन्तु इस मानवदेह को प्राप्त कर यह जन्म से ही चित्तवृत्ति की बहिर्मुख अवस्था को धारण करने वाला होता है- **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू:।'** (कठ.उप. २.१.१) अपने पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूपमें चित्त की बहिर्मुख अवस्था को प्राप्त करके ही यह देहरूप से आबद्ध अवस्था में भोगपरक जीवन को धारणकर आत्मविस्मृति को अपना लेता है। यह कदाचित् ही जलप्रवाह में रहकर उद्गम की ओर प्रस्थान करने वाली मछली की भाँति हृदयस्थ परमात्मा को प्राप्त करने हेतु अपनी चित्तवृत्ति को अन्तर्मुख अवस्था प्रदान करने वाला बनता है। यह कदाचित् ही इस मानवदेह के कारणभूत

को जानने का प्रयास करता है। उपनिषद् वाणी में श्रुति का कथन है कि ''जो पुरुष (स्त्री-पुरुष) इस मानवदेह में स्थित आत्मा को जानते हैं वे अमरता को प्राप्त करते हैं तथा अन्य दूसरे लोग जो इसे नहीं जानते हैं, वे ही इस जगत में दु:ख को प्राप्त होते हैं।'' (श्वेता.उप. ३.१०) अत: मनीषीजन मानवमन की इस बहिर्मुख भोगासक्त अवस्था को ही इस जगत् में दु:खप्राप्ति का मूलभूत कारण होना कथन करते हैं। वे इस बहिर्मुख भोगासक्त अवस्था को अधोगति की ओर ले जाने वाला तथा अन्त:स्थ पुरुष का बोध प्राप्त करने के प्रयास को ही ऊर्ध्वगति को अपनाना व्यक्त करते हैं। वे इस देहरूप में स्थित जीवात्मा द्वारा अपनायी गयी इस बहिर्मुख चित्तवृत्ति और भोगलालसा के आधार पर ही इस जगत् को दु:खों का घर **(दु:खालय)** होना जानते हैं तथा इस विषयासक्त अवस्था में देहस्थ जीवात्मा द्वारा अपने निर्विकार, तेजोमय, परम शान्त, धवलरूप, मुदितामय, अव्यय आत्म स्वरूप की विस्मृति को प्राप्त कर स्वयं को कर्तापुरुष मान लेना ही कर्मबन्धन रूप में दु:खप्राप्ति का एकमेव कारण होना कथन करते हैं। अत: वे इस मानव जीवन में सुख की अक्षय अवस्था को प्राप्त करने हेतु अन्त:स्थ पुरुष से सायुज्यता को प्राप्त करना आवश्य मानते हैं। अन्त:स्थ पुरुष का बोध प्राप्त कर स्वयं की शौर्यमय, अनासक्त, निर्विकार, धवलरूप, स्नेहमय (रसमय) स्वयं प्रकाश अवस्था को प्राप्त कर लेना ही जन्म-चक्र से मुक्ति का एकमेव मार्ग होना वर्णन करते हैं।

योग का परिभाषित स्वरूप

४. मानवदेह में स्थित रहकर अपने अनश्वर आत्मस्वरूप का बोध करने हेतु 'योग' को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि का कथन है कि- **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:।'** (योग दर्शन १.२) अर्थात् ''चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग है।' यह 'योग' की **प्रथम** बहुप्रचलित परिभाषा है, जिसमें बहिर्मुख चित्तवृत्ति का शमन करते हुए आत्मस्मृति को प्राप्त करना ही 'योग' होना कथन किया गया है। ध्यान-साधना द्वारा अन्त:स्थ पुरुष का बोध प्राप्त कर स्वआत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना वर्णन किया गया है - **'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्।'** (योगदर्शनम् १.३) योग की यह परिभाषा मन:संयम तथा प्राणायाम की प्रक्रिया पर आधारित होकर ध्यान-साधना से सम्बन्धित है। यह 'ध्यान योग' ही अन्त:स्थ पुरुष के प्रकाशरूप का, उसके विराट्विश्वरूप का, सकल जगत् के नियन्ता (प्रशासक) स्वरूप का बोध प्राप्त करने में सहायक होता है, अत: योग की इस प्रक्रिया को 'ध्यान योग' के अतिरिक्त 'राजयोग' रूप में भी जाना गया है।

योग की अन्य तीन परिभाषाएँ हमें श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त होती हैं। गीताशास्त्र में आयी

'योग' की **प्रथम** (द्वितीय) परिभाषा- **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २.४८) अर्थात् 'समता के भाव को योग कहते हैं।' की गयी है। योग की यह परिभाषा मन:चेतना से सम्बन्ध रखने वाली है। यह सर्वावस्था में विवेक, धैर्य एवं प्रज्ञा की अचल अवस्था को धारण करने की अपेक्षा करती है। अत: इसे 'ज्ञान योग' की आधारभूमि रूप में जाना गया है। श्रीमद्भगवद् गीता में योग की **द्वितीय** (तृतीय) परिभाषा **'योग: कर्मसु कौशलम्'**; (गीता २.५०) अर्थात् ''कर्म की कुशलता (प्रवीणता) को धारण करना ही योग है।'' प्राप्त होती है। यह परिभाषा कर्म को दोषरहित अवस्था में पूर्णता प्रदान करने अर्थात् स्वकर्म की दक्षता, श्रेष्ठता, प्रवीणता एवं गुणवत्ता आदि गुणों को धारण करना ही योग की प्राप्ति होना प्रकट करती है। यह परिभाषा कर्म की महत्ता पर आधारित होकर ***'अहं ब्रह्मास्मीति'*** की भावभूमि पर कर्तापुरुष के विराट्रूप को उजागर करती है। अत: इसे 'कर्म योग' का आधार जाना गया है। गीताशास्त्र में आयी योग की **तृतीय** (चतुर्थ) परिभाषा हमें- **'तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (गीता ६.२३) अर्थात् ''दु:खसंयोग की वियोगरूपा अवस्था का नाम योग है; उसको जानना चाहिए।'' रूप में प्राप्त होती है। योग की यह परिभाषा परिणाममूलक है। यह सर्वरूप 'ब्रह्म' या आत्मभाव को प्राप्त अवस्था को प्रकट् करने वाली है, जिसे गीतावाणी में **'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'** (गीता १२.१७) कहा जाकर प्रकट किया गया है।

इस प्रकार 'योग' का यह चतुष्पाद् परिभाषित स्वरूप हमें प्राचीन ग्रन्थों में जानने को मिलता है। चूंकि समस्त प्रकार की 'योगसाधना' का एक ही लक्ष्य होता है- ''सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना और मनुष्य जीवन की दु:खरहित अवस्था को धारण करना।'' अत: योग की यह चतुर्थ परिभाषा तुरीयरूप अवस्था में ब्रह्मभाव या ब्राह्मी अवस्था पर आधारित होकर प्रथम तीनों ही परिभाषाओं को समाहित करती हुई उन्हें धारण करने वाली है। जिस प्रकार अविनाशी आत्मा का बोध प्रदान करने वाली ओंकारध्वनि 'ॐ' के तुरीयरूप उच्चारण में प्रथम तीनों मात्राएँ लय अवस्था को प्राप्त कर, उसमें उपस्थित बनीं रहती है; उसी प्रकार 'योग' की यह ''दु:खसंयोग की वियोगरूपा अवस्था'' प्रथम तीनों ही प्रकार की योगसाधना के परिणाम को समाहित करती हुई उन्हें धारण करने वाली है। यह परिभाषा अपने गर्भ में श्रुति कथन- **स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा।'** (कठोपनिषद् १.२.१३) को धारण करने वाली प्रकट् है। यह जीवन की सर्वावस्था में मुदिता प्रदान करने वाली है। अत: अब हम 'योग' अथवा 'योगावस्था' के इस चतुष्पाद् स्वरूप पर किंचित् विस्तार के साथ विचार करेंगे। अस्तु -

४.१ योग की प्रथम परिभाषा है- **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।'** (योगदर्शनम् १.२) अर्थात् 'चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग है।' यह योग की (बहु) प्रचलित सर्वमान्य परिभाषा है। महर्षि पतंजलिकृत 'योग' की यह परिभाषा अतिसंक्षिप्त होकर भी व्यापक स्वरूप को धारण करने वाली है। इस परिभाषा में कुल तीन शब्द समाहित हैं - योग, चित्तवृत्ति और निरोध। इस परिभाषा में आए ये तीनों ही शब्द अध्यात्म, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। ये तीनों शब्द अपना पृथक्-पृथक् अर्थ धारण करते हैं। इस त्रिपाद् शब्द संरचना में आया प्रथम **'योग'** शब्द बहुआयामी है। यह पारिभाषिक शब्द है। अतः यह अपना एक निश्चयात्मक अर्थ धारण करता है। 'योग' शब्द धर्म, दर्शन और अध्यात्म के अतिरिक्त गणित शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, रसायन शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र, आदि में भी उपयोग किया जाता है। गणित शास्त्र में यह किन्हीं दो या दो से अधिक संख्याओं की संयुक्त अवस्था को; आयुर्वेद शास्त्र में यह किन्हीं दो या दो से अधिक औषधीय तत्त्व के सम्मिश्रण से प्राप्त होने वाले उनके नवीन औषधीय स्वरूप एवं उसके चिकित्सकीय प्रभाव को; रसायन शास्त्र में यह किन्हीं दो या अधिक भिन्न तत्त्व अथवा पदार्थ के परस्पर रासायनिक सम्मिश्रण से प्राप्त होने वाले किसी नवीन यौगिक पदार्थ के उद्भव एवं उसके गुणात्मक प्रभाव को तथा ज्योतिष शास्त्र में यह किन्हीं दो या दो अधिक ग्रहों द्वारा इस सम्पूर्ण व्योम (ब्रह्माण्ड) में परिभ्रमण करते हुए किसी एक राशि या किसी एक नक्षत्र में प्राप्त की गयी उनकी संयुक्त गोचर अवस्था और उसके निश्चियात्मक प्रभाव को सूचित करने वाला जाना जाता है। इस प्रकार **'योग'** शब्द सर्वत्र ही किन्हीं दो या दो से अधिक भिन्न अस्तित्व द्वारा अपने एकात्मक समेकित स्वरूप में प्राप्त की गयी गुणात्मक वृद्धि एवं उसके निश्चयात्मक प्रभाव एवं परिणाम को प्रकट करने वाला होता है। अतः 'योग' शब्द का यह एकमेव सामान्य अर्थ ही इसके धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करने वाला होता है। यह मानवमात्र के लिये निर्विकार अक्षयसुख, मनःशान्ति, मुदिता, रसमयता, सन्तोष, शौर्य, धैर्य, अभय और स्वयंप्रकाश अवस्था, आदि गुणों में वृद्धि करने वाला जाना जाता है।

४.१(१) महर्षि पतंजलिकृत 'योग' की इस परिभाषा में आया द्वितीय शब्द **'चित्तवृत्ति'** अत्यन्त महत्वपूर्ण है। योग की इस परिभाषा में यह चित्तवृत्ति शब्द आधारभूत अवस्था को धारण करने वाला है। यह मानवमात्र द्वारा धारण की गयी क्रियाशक्ति से सम्बन्ध रखता है। 'चित्तवृत्ति' शब्द में 'चित्त' तथा उसकी 'कार्य करने की प्रवृत्ति' इन दोनों ही बिन्दुओं पर समेकित रूप में विचार किया गया है। यह 'चित्तवृत्ति' शब्द समासरूप है - चित्तस्य + वृत्तिः = चित्तवृत्ति। इस संयुक्त शब्द में वृत्ति शब्द वरीयता को प्राप्त है। अतः यह तत्पुरुष समास की

श्रेणी में आता है। जब हम चित्तवृत्ति शब्द में समाहित इन दोनों ही शब्द पर पृथक्-पृथक् एवं समेकित रूप में विचार करते हैं, तो पाते हैं कि मानव शरीर की संरचना और इसकी क्रियाशीलता में 'चित्त' अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका (अवस्था) को धारण करने वाला अवयव जाना जाता है। यह चेतनामय होकर, विचार और कर्म इन दोनों से सम्बन्ध रखने वाला प्रकट् होता है। अत: मनीषी पुरुष चित्त का अस्तित्व ज्ञानेन्द्रिय रूप में स्वीकार करते हैं। वे इसे सतत् सक्रिय और कर्म-प्रवृत्ति का आधार होने के साथ-साथ असंग अवस्था को धारण करने वाला जानते हैं। अपनी मूलअवस्था में चित्त को निर्विकार, आकाशवत् स्वच्छ एवं शान्तस्वरूप होना कथन करते हैं।

४.१(२) भारतीय दर्शन (चिंतन) परम्परा में 'चित्त' का अस्तितत्व इस मानवदेह में पृथक् अवयव रूप में स्वीकार किया गया है। चित्त को चेतनामय एवं सकल क्रियाशक्ति का आधार होना जाना गया है। (पाश्चात्य जगत् में चित्त का अस्तित्व पृथक् रूप में स्वीकार न करते हुए इसे 'अवचेतन मन' रूप में, मन की एक अवस्था होना जाना गया है।) भारतीय मनीषी पुरुष 'चित्त' की तुलना **'स्फटिक पत्थर'** से करते हैं। वे चित्त को स्फटिक पत्थर की भाँति चमकीला, निर्मल, पारदर्शी, धवलरूप, शीतल एवं आकाश सदृश असंग प्रकृति का होना कथन करते हैं। वे 'चित्त' को ही 'पुरुष तत्त्व' एवं 'प्रकृति तत्त्व' के उभयरूप संयुक्तस्वरूप को धारण एवं प्रकट् करने वाला जानते हैं। जिसकी सहायता से प्रकृति और पुरुषतत्त्व के उभयरूप जगत् के धारणकर्ता अनादि कारण स्वरूप को सब के द्वारा सुगमता पूर्वक भलीभाँति जाना जा सकता है।

भारतीय मनीषा द्वारा चित्त को अन्त:करण का अङ्ग माना गया है तथा अन्त:करण का गठन 'मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त' रूपी चतुष्टय के द्वारा होना कथन किया गया है। अन्त:करण के इस चतुष्पाद् संगठन में - मन, बुद्धि और अहंकार, ये प्रथम तीन 'अपरा प्रकृति' का अङ्ग होते हैं तथा चतुर्थ- चित्त; निर्मल, शान्त (शीतल) एवं पारदर्शी होकर, आकाशवत् परावर्ती रूप में, 'परा प्रकृति' का प्रतिनिधित्व करने वाला जाना जाता है; जिसके द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया जाता है और इसका असंगतावाला गुण ही कर्ता होकर भी अकर्तारूप में 'पुरुष तत्त्व' को प्रकट् करने वाला कथन किया जाता है। इसे ही 'पुरुषतत्त्व' को प्राप्त करने का साधन माना जाता है। जिसे स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भागवतपुराण में महर्षि कपिल का कथन है कि-

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवत: पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महात्मकम्।।

(श्रीमद्भागवत पुराण ३. २६. २१)

-"जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान् की उपलब्धि का स्थान चित्त है, वही महत्तत्त्व है और उसी को 'वासुदेव' कहते हैं।"

इस प्रकार अध्यात्म जगत् में जिसे चित्त कहा गया है; वही अधिभूत रूपमें महत्तत्त्व कहा जाना प्रकट् होता है। 'परा प्रकृति' सत, रज और तम इन त्रिगुणों की समुद्भवकर्ता होकर तथा इनकी क्रियाशीलता को अपनाकर विकारों को जन्म देती है और जागतिक सत्ता रूप में अपना समस्त कार्य करती है। यह 'सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण' की कारक होकर इन तीनों ही गुणों के द्वारा मन, बुद्धि और अहंकार की सहायता से इनकी विषयासक्त अवस्था में इस अनश्वर जीवात्मा को देहरूप से बाँधती है। इस धवलरूप, तेजोमय, अनश्वर, स्वयंप्रकाश, सूर्यरूप जीवात्मा के लिये यह त्रिगुणमय विषयासक्त अवस्था ही कर्मबन्धन का कारण बनती है। अत: योगी पुरुषों द्वारा 'चित्त' को अपनी निर्मल प्रकृति में त्रिगुणों के द्वारा प्रभावित होने वाला, किन्तु अपने मूलस्वरूप में सदैव ही निर्विकार अवस्था को धारण करने वाला जाना जाता है। चित्त का यह जो आकाशवत् निर्मल, धवलरूप, असङ्ग, निर्विकार कर्तास्वरूप है; यह परम अक्षर पुरुष परमात्मा का प्रतीक लक्षण है तथा त्रिगुणों पर आधारित इसकी यह जो क्रियाशीलता है, इसे ही पृथक्‌रूप में 'शक्ति तत्त्व' कहा जाकर, इसे स्वगुणों को अपनाकर अपना कार्य करने वाला 'प्रकृति तत्त्व' माना गया है। इसे ही सकल जगत् का कारण होना जाना गया है।

४.१(३) इस प्रकार अविनाशी आत्मा या देहस्थ जीवात्मा द्वारा अपनी देहरूप से आबद्ध अवस्था में मन, बुद्धि और अहंकार द्वारा धारण किये गये त्रिगुणात्मक मनोभाव की न्यूनता या अधिकता के अनुसार धारण की गयी सक्रियता ही चित्त द्वारा विकाररूप में क्रियाशीलता को प्राप्त करना कथन की जाती है। देहरूपी धरातल पर मन, बुद्धि और अहंकार द्वारा समेकित रूप में धारण किये गये संकल्प अथवा विकल्प रूपी मनोभाव के अनुसार ही चित्त अपनी क्रियाशीलता को अपनाता है तथा निर्विकार एवं असंगता के गुण को धारण करने वाला होकर भी तद्रूप अवस्था को धारण करने वाला हो जाता है। चूंकि 'परा प्रकृति' अपने समस्त कार्य त्रिगुणों के माध्यम से करती है तथा चित्त स्फटिक पत्थर की भाँति 'परा प्रकृति' के क्रियात्मक सचेतन स्वरूप को ही धारण एवं प्रकट करने का कार्य करता है। अत: निर्विकार, धवलरूप, चित्त द्वारा आकाशवत् धारण की जाने वाली इस तद्रूप अवस्था को ही मायारूप होना (= न होकर भी तद्‌रूप में भासना) जाना गया है। इसे ही परा प्रकृति के क्रियात्मक स्वरूप को धारण करने वाला कथन किया गया है। अन्त:करण रूप में चित्त द्वारा धारण किये गये इस मायारूप

को ही श्रीमद्भगवद् गीता में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण द्वारा अपनी दुर्लङ्घ्य माया कहा गया है- **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।'** (गीता ७.१४) तथा स्वयं की असंग अवस्था में (अर्थात् स्वयं के अधिष्ठाता रूपमें) प्रकृति तत्त्व द्वारा समस्त सृष्टि-सृजन् का कार्य करना कथन किया गया है- **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।** (गीता ९.१०) प्रकृति के इस सृजनकार्य को स्वयं के देहरूप की सहायता से सहज ही जाना जा सकता है। जिस प्रकार इस मानवदेह में जीवात्मा के रहते हुए ही समस्त अंगों की वृद्धि होती है। नाखून, रोम, केश आदि समस्त अवयव उत्पन्न होकर विकसित अवस्था को प्राप्त करते हैं तथा इस हेतु देहमें उपस्थित रहकर भी स्वयं को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। उसी प्रकार उस पुरुष तत्त्व की उपस्थिति में महत् प्रकृति तत्त्व द्वारा समस्त जागतिक स्वरूप का सृजनकार्य किया जाता है। इस प्रकार समस्त सृजनकार्य का सार्वभौम आधार होकर भी आत्मपुरुष श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं को कर्मबन्धन से रहित, अलिप्त एवं इससे परे रहना व्यक्त किया गया है। इस वस्तुस्थिति के आधार पर ही दर्शनग्रन्थों में 'पुरुषतत्त्व' को असंग होना प्रकट् किया गया है- **असंगोऽयम् पुरुषः।** (सांख्य दर्शन ६.५४) तथा अपनी असंग अवस्था में चित्त द्वारा धारण किये गये त्रिगुणात्मक 'परा प्रकृति' के इस चेतनता वाले गुण को ही श्रुति द्वारा उपनिषद् वाणी में स्वगुणों से आच्छादित **देवात्म शक्ति** कहा जाना प्रकट् होता है। (श्वे.उप. १.३) इस त्रिगुणात्मक कर्ता स्वरूप को ही प्राचीन पुराण साहित्य में पुरुषरूप में- ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा त्रिदेवी रूप में - सरस्वती, लक्ष्मी और काली - कहा जाना प्रकट् है। और, प्रकृतितत्त्व के महत्स्वरूप को ही माहेष्वरी कहा गया है। इस वस्तुस्थिति के 'तात्त्विक बोध' हेतु ही गीतावाणी कथन करती कि प्रकृतितत्त्व की इस (त्रिगुणात्मक) सक्रियता को तथ्यात्मक रूप में को जान लेना ही वस्तुस्थिति का बोध प्राप्तकर लेना है:- **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।** (गीता १३.२९) (अर्थात्) ''जो पुरुष कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये जाते देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही वास्तव में देखता है।'' इस प्रकार यह अपने आत्मा के अकर्ता स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेना है।

इस प्रकार पुरुषरूप में चित्त की निर्मल, धवलरूप, असंग, आकाशवत् अवस्था से जुड़ा हुआ 'परा प्रकृति' का यह जो मायारूप है, देह रहित 'वैदही' स्वरूप है। इसे ही अखिल जगत् का कारण होना जाना जाता है। इसे ही अव्यय, निर्विकार, धवलरूप, अविनाशी, आत्मा (जीवात्मा) के लिये जागतिक मोह का कारण एवं देहरूप से आबद्ध अवस्था में इससे पार उतर पाना अत्यन्त कठिन कार्य कहा जाकर, अपने मूल असंग आत्मस्वरूप का स्मरण कर,

उसका बोध प्राप्त कर लेना ही कर्मबन्धन से मुक्ति का आधार होना वर्णन किया गया है आत्मबोध प्राप्त शुद्ध हो जाना **'शुध्यन्ति आत्माऽऽत्मविद्यया'** (श्रीमद् भागवत् १०.५.४) कहा गया है। और, इसे ही **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**, **'ज्ञानान्मुक्तिः'** एवं **'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'** कहा जाना प्रकट् होता है। अतः चित्त की यह जो निर्मल धवलरूप असंग अवस्था है तथा मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व की त्रिगुणों पर आधारित इसकी यह जो क्रियाशीलता है तथा जिसे जीवात्मा के भोक्ता और अभोक्ता रूप में पृथक्- पृथक् होना जाना गया है। इस उभयरूप अवस्था को ही अपने असंग एवं संगात्मक स्वरूपमें, देहरूपी आत्मवृक्ष (संसारवृक्ष) पर, साथ-साथ जन्म लेकर, परस्पर सखाभाव को धारणकर एकसाथ निवास करने वाले दो भिन्न पक्षी रूप में जाना जाकर धर्मशास्त्रों में वर्णन किया जाना प्रकट होता है। इस उभयरूप अवस्था को ही वेदवाणी तथा उपनिषद् वाणी में श्रुति द्वारा **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** रूपमें; (ऋग्वेद १.१६४.२०, अथर्ववेद ९.१४.२० एवं मुण्ड. उप. ३.१.१) श्रीमद्भगवद्गीता में **क्षर और अक्षर पुरुष** रूप में (गीता १५.१६) तथा श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ में **'फटिक सिला बैठे द्वौ भाई'** (श्रीरामचरितमानस ७.२८.८) कहा जाकर, इसी उभयरूप अवस्था को प्रकट करना विदित होता है। इस प्रकार उस परमेश्वर के इस असंग एवं संगात्मक कर्तास्वरूप को जान लेना ही समस्त जनसमुदाय के लिये स्वआत्मस्वरूप का बोध प्राप्त कर, उसमें स्थित होने एवं कर्मबन्धन आधारित 'अविद्याजनित गाँठ' को खोलने में सहायक हो जाता है। और, स्फटिक पत्थर की भाँति स्वयं के आत्मा की धवलरूप, अचल, असंग, निर्विकार एवं शीतल अवस्था का बोध प्राप्त कर उसमें स्थित हो जाना ही कैवल्य अवस्था को धारण कर लेना होता है। इस एक मनुष्य जन्म में उस परमात्मा का बोध प्राप्त कर जन्म-चक्र की पूर्णता को प्राप्त कर लेना या जन्मचक्र से मुक्त हो जाना होता है। और, यही इस मनुष्य जीवन को प्राप्तकर, निर्वाण को प्राप्त कर लेना भी।

४.१(४) सकल सृष्टि-जगत् के धारणकर्ता 'अपरा प्रकृति' और 'परा प्रकृति' के इस उभयरूप, क्रियात्मक स्वरूपका तथा पुरुषतत्त्व के असंग, अकर्तास्वरूप का वर्णन करते हुए गीतावाणी में आत्मपुरुष, योगेश्वर, सद्गुरु श्रीकृष्ण का कथन है कि-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

 श्रीमद्भगवद्गीता ७.४-५ ।।

- ''पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी, इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेद वाली तो मेरी अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति है। और, हे महाबाहो! इस से भिन्न दूसरी को जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, (उसे) मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति होना जान।''

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता ७.६ ।।

-''(तू) ऐसा समझ कि सम्पूर्ण जीव-जगत् इन दोनों ही प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाले हैं। (और) मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूलकारण (इन दोनों से पृथक् होकर स्थित) हूँ।''

इस प्रकार 'अपरा (जड़) प्रकृति' का यह अष्टधारूप और 'परा प्रकृति' का चेतनामय त्रिगुणों को धारण करने वाला यह समेकित उभयरूप ही महत् प्रकृति रूप में जाना गया है। यही इस सृष्टिजगत् के संचरण का कारण होता है और यह अनश्वर जीवात्मा (आत्मा) निश्चल एवं निर्विकार होकर भी आत्मविस्मृति को अपनाकर मन, बुद्धि और अहंकार से जुड़ी हुई त्रिगुणों की क्रियाशीलता के अनुसार स्वयं की गुणासक्त अवस्था को अपनाकर इस मानवदेह की कर्मरत अवस्था को धारण कर लेता है। अतः चित्त की निश्चल, निर्विकार, धवलरूप, असंगअवस्था को प्राप्त करने हेतु मन, बुद्धि और अहंकार इन तीनों ही अवयव की लय (निष्क्रिय) अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। नित्यजीवन में दम-शम को अपनाकर चित्त की क्रियाशीलता के आधार को निर्मूल करना होता है।

४.१(५) अपरा प्रकृति के अष्टधा रूप में प्रथम पांच तत्त्व - 'पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश'; 'पंच महाभूत' कहे गये हैं। ये पांचों ही तत्त्व समस्त चर-अचर भूत समुदाय की देहरूप संरचना का आधार होते हैं। न्यूनाधिक रूप में ये पांचों ही तत्त्व समस्त जीव-जगत् रूप में सर्वत्र ही, सदैव विद्यमान बनें रहते हैं। इस सृष्टि-जगत् में समस्त शरीर-रूप की संरचना इन पांच महाभूतों के द्वारा होना जानी गयी है। अतः इन्हें स्थूल या जड़ प्रकृति रूप में जाना गया है। अपरा प्रकृति के शेष तीन तत्त्व मन, बुद्धि और अहंकार, यद्यपि 'जड़ प्रकृति' का अंग होते हैं। ये जड़ता का गुण धारण करते हैं, किन्तु इन्हें सूक्ष्मता के गुण को धारण करने वाला जाना जाता है। ये तीनों ही सूक्ष्मतत्त्व परा प्रकृति के सम्पर्क से चेतनता का गुण अपनाने वाले अनुभव

किये जाते हैं। ये स्वतन्त्ररूपमें अपना कार्य करने वाले जाने जाते हैं। इनमें मन विकारों को जन्म

देने वाला होता है तथा बुद्धि पदार्थों का बोध प्रदान करती है- **मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी।** (श्रीमद्भागवत २.१०.३२) मन अपने उभयरूप में विषयासक्त और निर्विषय अवस्था को धारण करता हुआ बुद्धि के अधीन तथा बुद्धि अपनी निरपेक्ष अवस्था में अहं तत्त्व की अधीनता में कार्य करती है। यद्यपि बुद्धि 'निश्चयात्मक (निर्णायक) गुण' एवं 'निरपेक्ष भाव' को धारण करती है, तथापि यह अहंकार (अहं तत्त्व) के वशीभूत होकर अपना समस्त कार्य करती है। जीवात्मा द्वारा धारण किया गया अभिमान का भाव ही अहंकार रूपमें जाना जाता है- **'अभिमानोऽहंकारः'** (सांख्यदर्शन २.१६) यह अहंकार ही कर्ताभाव को जन्म देता है। यह इस जगत् में कर्म को अपनाने का कारण होता है- **'अहंकारः कर्ता न पुरुषः'** (सांख्यदर्शन ६.५४) अपरा प्रकृति के इन तीनों ही अवयव (मन, बुद्धि और अहंकार) की क्रियाशीलता 'परा प्रकृति' से उत्पन्न होने वाले सत, रज और तम, इन त्रिगुणों की सक्रियता पर निर्भर होती है। त्रिगुणों की न्यूनता या अधिकता के अनुसार इनके द्वारा धारण की गयी क्रियाशीलता ही मानवस्वभाव का सृजन करती हैं; जिससे आबद्ध अवस्था में यह पुरुषरूप जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता को अपनाकर कर्म के प्रति अभिरूचि, निष्ठा, श्रद्धा, समर्पण और उपेक्षाभाव, आदि गुणों को धारण करने वाला बन जाता है। यह अपने पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूप में सत, रज और तम, इन तीनों ही गुणों में से जिस किसी गुण की न्यूनता अथवा अधिकता को धारण करता है; उसके अनुसार ही कर्म, आचरण एवं विचार को अपनाने वाला हो जाता है। त्रिगुणों की परस्पर न्यूनता या प्रचुरता के आधार पर ही सद् या असद् वृत्ति को धारण करने वाला हो जाता है।

इस प्रकार यह चित्त जो स्वयं की निर्विकार, असंग, धवलरूप, पारदर्शी एवं आकाशवत् निर्मल, निर्विकार, अव्यय, अवस्था को धारण करता है; यह मन, बुद्धि और अहंकार द्वारा समेकित अवस्था में (त्रिगुणों से आवेशित अवस्था में) धारण किये गये संकल्प या विकल्परूपी मनोभाव के अनुसार ही क्रियाशीलता को धारण करने वाला हो जाता है। चूंकि मन, बुद्धि और अहंकार की इस त्रिपुटी में अहंकार तत्त्व वरीयता को धारण करता है, अतः चेतना स्वरूप महत् प्रकृति तत्त्व द्वारा (अपने अपरा और परा प्रकृति के संयुक्त स्वरूप में) किया जाने वाला यह समस्त कार्य अहंकार तत्त्व द्वारा किया जाने वाला जाना जाकर ही दर्शनविद् मनीषी ऋषियों द्वारा **'अहंकारः कर्ता न पुरुषः'** (सांख्य दर्शन ६.५४) घोषित किया गया है। तथा अपने संयुक्त स्वरूप में (अन्तःकरण रूपमें) चित्त की इस सहज क्रियाशीलता को ही **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** (गीता ५.१४) कहा जाकर इसे ही 'मानव स्वभाव' रूप में जाना जाता है। और, चित्त द्वारा (अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के इस चतुष्टय द्वारा)

अन्त:करण रूप में धारण की गयी इस समूची कार्यप्रक्रिया को आत्मरहस्य रूप में सांगोपांग जान लेना ही 'अध्यात्म ज्ञान' की विषय सामग्री होना जाना गया है - **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते** । (गीता ८.३) अन्त:स्थ आत्मा या सर्वरूप परमात्मा द्वारा धारण की गयी इस सतत् क्रियाशीलता और इसके निर्विकार असंग आत्मस्वरूप को उपनिषद्वाणी में आये निम्न श्रुतिकथन द्वारा भलीभाँति जाना जा सकता है कि - **'एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** ।। (श्वेता.उप.६.११) अर्थात् ''(वह) एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी और समस्त प्रणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है। वह सबके कर्मों का अधिष्ठााता, सम्पूर्ण भूतों का निवास स्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत भी है।''

४.१(६) इस प्रकार चित्तवृत्ति या चित्त की क्रियाशीलता मन, बुद्धि और अहंकार द्वारा धारण की गयी त्रिगुणो की सक्रियता पर निर्भर होती है। जिसका निरोध कर लेना ही अपने असंग आत्मस्वरूप को जानने या योगावस्था को प्राप्त करने का साधन होता है। चूंकि इस मानवदेह में निवास करते हुए स्वयं की देहरूप अवस्था में पराप्रकृति की इस सहज क्रियाशीलता एवं इसके त्रिगुणात्मक प्रभाव से पार पाना सदैव ही असंभव कार्य है। कारण कि यह एक पुरुषतत्त्व ही बीजरूप होकर प्रकृति और पुरुषतत्त्व के उभयरूप को धारण करने वाला है। प्रकृति और पुरुषतत्त्व का यह उभयरूप ही काष्ठ और उसमें समाहित अग्नि की भाँति अविभाज्य अवस्था को एवं धूप तथा छाँव की भाँति परस्पर आश्रित होना जाना जाता है; अनुभव किया जाता है। अत: चित्त की निर्विकार, धलरूप अवस्था को प्राप्त करने हेतु योगेश्वर, सद्गुरु, सखा, श्रीकृष्ण का गीतावाणी में उपदेश है कि- 'हे अर्जुन! तू त्रिगुणों से रहित हो जा- **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'** (गीता २.४५) अर्थात् ''तू इन त्रिगुणों की क्रियाशीलता से प्रभावित नहीं होने वाला बन जा।'' अर्थात् स्फटिक पत्थर की भाँति असंगता के गुण को धारण करने वाला हो जा। अर्थात् तू अपने मूल असंग आत्मस्वरूप को धारण करने वाला अर्थात् साक्षी या केवल द्रष्टापुरुष बन जा। मानवदेह में स्थित रहकर सत, रज और तम, इन त्रिगुणों की क्रियाशीलता से अप्रभावित बने रहने की इस अवस्था को ही **त्रिगुणातीत, देहातीत या विदेह अवस्था** को धारण करना कहा गया है। अपने देहधारी पुरुष रूप में राजा जनक को विदेह कहा जाकर, उन्हें परमयोगी माना गया है। अपनी इस असंग अवस्था में राजा जनक और राजा अश्वपति, राजा श्वेतकेतु आदि राजाओं को कर्म के द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त करने वाला जाना गया है- **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:** । (गीता ३.२०) तथा सकल जगत् की धारणकर्ता 'परा प्रकृति' रूप 'महत् चेतना शक्ति' को भी देवी सीता के

जनकनन्दिनी रूप में **वैदेही** कहा गया है।

४.१(७) इस प्रकार अपरा और परा प्रकृति द्वारा अपने संयुक्त स्वरूप में धारण की गयी त्रिगुणों पर आधारित क्रियाशीलता और चित्त की निर्मल, असंग, धवलरूप, अव्यय, स्वयंप्रकाश अवस्था का बोध प्राप्त कर, हम उसमें स्थित हो जावें; हम पुरुषतत्त्व के गुण और लक्षण को जानकर उन्हें अपनाने वाले बन जावें; हम स्फटिक पत्थर की भाँति स्वयं की धवलरूप, अनासक्त, साक्षीरूप, स्वयंप्रकाश, शीतल, निर्विकार अवस्था को प्राप्त कर, उसे धारण करने वाले हो जावें; यही 'योग यात्रा' का एकमेव लक्ष्य अथवा प्राप्तव्य होना जाना गया है। अत: योग की इस परिणिति को प्रकट् करते हुएं महर्षि पतंजलि का कथन है कि **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'** (योगदर्शनम् १.३) अर्थात् ''उस अवस्था में द्रष्टा पुरुष अपने स्व-आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है।'' वह उस परम अक्षरपुरुष को अपनी असंग अवस्था में तथा महत् प्रकृति को अपने उभयरूप में कर्मरत होना जानकर अर्थात् अपने अनश्वर आत्मा को अपनी निर्लिप्त अवस्था में आकाशवत् अचल एवं निर्विकार होना जानकर कर्म के बन्धन से सदा-सर्वदा के लिये मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मरहस्य को जानकर वह उस परात्पर पुरुष को ही प्राप्त कर लेता है तथा जन्म-चक्र या कर्म के बन्धन से सदैव के लिये मुक्त हो जाता है। इस प्रकार देहस्थ पुरुषतत्त्व द्वारा स्फटिक पत्थर की भाँति धारण की जाने वाली यह जो स्वयं की असंग अवस्था है तथा प्रकृति तत्त्व रूप में धारण की जाने वाली यह जो परावर्तन रूपी अव्यय क्रियाशीलता है तथा जिसे गीतावाणी में **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** (गीता ३.२७) कहा जाकर प्रकट किया गया है तथा **'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (वही) कहते हुए इस वस्तुस्थिति का बोध कराया गया है, इसमें पुरुषतत्त्व द्वारा धारण की जाने वाली इस असंग अवस्था का, स्वयं के पुरुष रूप में बोध प्राप्त कर लेना और जिस प्रकार वह परमात्मा स्फटिक पत्थर से सदैव ही पर एवं श्रेष्ठ बना रहता है, उसी प्रकार सर्वरूप परमात्मा को सर्वरूप से परे और सबसे श्रेष्ठ जान लेना ही परमगति को प्राप्त कर लेना है। पुरुष तत्त्व को प्रकट करने हेतु कठोपनिषद् में आया श्रुति कथन- **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।** (कठ.उप.१.३.११) इसी अवस्था का बोध प्रदान करता है। इस प्रकार का यह चित्त का प्रकटरूप तथा अन्त:करण रूप में उसके द्वारा धारण की गयी क्रियाशीलता अर्थात् चित्तवृत्ति का परिचय होना जाना जाता है।

४.१(८) महर्षि पतंजलिकृत योग की इस परिभाषा में आया तृतीय शब्द **'निरोध'** है। यह 'निरोध' शब्द अवरोध से निष्पन्न है, जो अवरोध की सम्यक् कारगर अवस्था को सूचित

करता है। परिभाषा रूप में आया यह 'निरोध' शब्द मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इन चारों ही अवयव की अर्थात् सम्पूर्ण अन्त:करण की शान्त, निर्मल, निर्विकार एवं धवलरूप **प्रसभं** अवस्था से सम्बन्ध रखने वाला है। अत: चित्त की लय अवस्था को प्राप्त करने या चित्तवृत्ति का निरोध करने हेतु आवश्यक होता है कि सर्वप्रथम मन, बुद्धि और अहंकार की निर्विकार, शान्त, धवलरूप अवस्था को प्राप्त किया जावे। इस मानवदेह की संरचना और इसकी क्रियाशीलता में दशेन्द्रियाँ, दशेन्द्रियों के विषय, मन, बुद्धि, अहंकार और अविनाशी आत्मा क्रमेण वरीयता को धारण करते हैं। (कठ.उप. १.३.१०) अत: महर्षि पतंजलि द्वारा चित्तवृत्ति की लय अवस्था 'निरोध' को प्राप्त करने का 'योग मार्ग' - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के आठ पायदान से युक्त होना वर्णन किया गया है। महर्षि पतंजलि प्रणीत् इस 'योग मार्ग' को '**अष्टांग योग**' रूप में भी जाना गया है। इस अष्टांग योग प्रक्रिया में दशेन्द्रियों की अनासक्त अवस्था एवं मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्तरूपी अन्त:करण की निर्विकार, शान्त, समुज्वल एवं धवलरूप ज्योतिर्मय (प्रकाशमय) अवस्था को प्राप्त करने हेतु महर्षि पतंजलि द्वारा नित्यआचरण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को अपनाना '**यम**' कहा गया है तथा देश, काल, जाति, धर्म और समय की सकल सीमा-परिधि से परे इन्हें - **सार्वभौम महाव्रत** - कहा जाकर, योग की प्राप्ति हेतु इन्हें अनिवार्यत: अपनाने का अनुशासन किया गया है। इसी प्रकार शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को '**नियम**' कहा जाकर, इनका पालन करना आवश्यक माना गया है। (योगदर्शन २.३०से ३२) योगावस्था की प्राप्ति हेतु पुरुषमात्र (स्त्री-पुरुषमात्र) द्वारा यम-नियम का पालन करना आवश्यक माना गया है। तथा योग साधना द्वारा आत्मबोध प्राप्त करने हेतु सुखमय अवस्था में स्थिरता पूर्वक बैठना ही **आसन** रूप होना; सुखमय अवस्था में बैठकर श्वास-प्रश्वास की सामान्य गति का विच्छेद करते हुए कुम्भक क्रिया (आन्तरिक कुम्भक एवं बाह्य कुम्भक क्रिया) को अपनाना ही **प्राणायाम** होना; यात्रा की आरम्भिक अवस्था में (अर्थात् यात्रा आरम्भ करने से पूर्व) रथ से जुते हुए अश्वों की भाँति दशेन्द्रियों की निष्क्रिय, अनासक्त एवं स्थिर अवस्था को प्राप्त करना ही **प्रत्याहार** के अन्तर्गत आना एवं किसी एक ही विषय या वस्तु पर मन की एकाग्रता को अपनाना ही **धारणा** होना वर्णन किया गया है। (योगदर्शन २.४६ से ५१) महर्षि द्वारा धारणायुक्त अवस्था में मन की एकाग्रता को पतंजलि प्राप्त करना ही **ध्यान** के अन्तर्गत आना तथा ध्यान करते हुए साधक एवं साध्य दोनों का एकरूप हो जाना ही **समाधि** अवस्था को प्राप्त करना एवं धारणा, ध्यान और समाधि की समेकित अवस्था को प्राप्त करना ही **संयम** को अपनाना प्रकट् किया गया है। (योगदर्शन ३.१ से ४) तथा इस सकल 'योग मार्ग' में संयम को अपनाना ही सिद्धि प्राप्त करने का आधार होना वर्णन किया गया है। (यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि यदि हम यम-नियम का

पालन करना ही संयम को अपनाना मान लेते हैं तो हमारी योगयात्रा अधूरी बनीं रहती है। योग की प्राप्ति हेतु **'संयम'** शब्द पारिभाषिक स्वरूप को धारण करता है। योगयात्रा में यह धारणा, ध्यान और समाधि अवस्था द्वारा प्राप्त बोध को नित्यआचरण में अपनाने की अपेक्षा करता है, जिसे हमारे द्वारा निदिध्यासन रूप में भी जाना गया है।) इस प्रकार ये सभी सोपान अन्त:करण रूप में देहस्थ आत्मा की निर्विकार अवस्था को प्राप्त करने का साधन होते हैं। ये दशेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार की लय अवस्था को प्राप्त करने का आधार होते हैं। ये मात्र धारणा या ध्यानरत अवस्था से सम्बन्धित न होकर, सम्पूर्ण जीवन-पद्धति का नियमन करते हैं। ये सर्वरूप आत्मा के ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश विराट्रूप का बोध प्राप्त करने का साधन होते हैं। यह देहस्थ आत्मा जो स्वयं आदित्यरूप होकर, स्वयं की अनश्वर, अव्यय, स्वर्णिम तेजोमय, भासमान, आकाशवत् असंग अवस्था को धारण करने वाला है; इसे ही प्राप्त करने का साधन होते है। अत: इन्हें क्रमेण एवं समेकित रूप में अपनाने का अनुशासन किया गया है। यह सम्पूर्ण योगमार्ग संयमित जीवन, प्राणायाम की नियमित प्रक्रिया, ध्यान-साधना एवं मन:चेतना की ज्योतिर्मय, स्वयंप्रकाश अवस्था पर आधारित होकर अन्त:स्थ पुरुष के विराट्रूप का बोध प्राप्त करने में सहायक होता है। यह योग इस जगत में श्री, विजय, विभूति एवं ऐश्वर्य आदि को प्रदान करता है, अत: इसे 'राजयोग' रूप में भी जाना गया है।

४.१(९) यहाँ यह उल्लेख प्रासंगिक है कि उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा इस एक मानवजन्म में ही अनश्वर आत्मा को जानने या प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। तथा इस परमात्म तत्त्व को नहीं जान पाना ही महान् हानि या विनष्टि होना एवं आने वाले कल्प में पुन: एक नवीन जन्म-चक्र को अपनाने का कारण होना प्रकट किया गया है। (केन.उप. २.५ एवं कठ. उप. २.३.४) इस पुरुष शरीर में रहकर, उस अक्षर पुरुष को नहीं जान पाना ही कृपणता या दीनता को धारण करना वर्णन किया गया है। (बृह.उप.३.८.१०) धर्मग्रन्थ अविनाशी आत्मा (जीवात्मा) द्वारा अपनायी गयी जन्म-प्रक्रिया में पुरुष रूपी मानवशरीर को (अर्थात् स्त्री-पुरुष रूप को) प्राप्त करना ही अन्तिम सोपान रूप में जन्म-चक्र की पूर्णता को प्राप्त करना कथन करते हैं। अत: इस **'अष्टांग योग मार्ग'** पर यात्रा करते हुए 'सारभूत रूपमें' हमें सदैव ही यह स्मरण रखना चाहिए कि **यम** शब्द का एक ही अर्थ होता है- काल अथवा समय; जिसका नियमन कालपुरुष यमराज द्वारा मृत्यु रूप में किया जाता है। अत: योगसिद्धि हेतु जीवनकाल की नियत समयावधि को सदैव ही स्मरण रखना तथा **'नियम'** रूप में परा एवं अपरा प्रकृति के जगत के धारणकर्ता शाश्वत नियम जिन्हें श्रुति द्वारा **'ऋतं पिबन्तौ'** (कठ.उप.१.३.१) अर्थात् 'नित्यजीवन में 'ऋत का अनुपान' करना या महत् प्रकृति के जगत् के धारणकर्ता नियमों का अनुपालन करना कथन किया गया है, को नित्य- आचरण में अपना

लेना ही सिद्धिदायक हो जाता है। उपनिषद् वाणी में श्रुति वर्णन करती है कि इस सकल सृष्टि-जगत् की संरचना करने के उपरांत वह परमात्मा सबमें प्रविष्ट होकर निवास करने वाला है। अपने पुरुषरूप निवास हेतु अन्य सब शरीर - गौ, अश्व, आदि का परित्याग करते हुए उस हिरण्यगर्भ पुरुष द्वारा अपने सुखमय स्थिर निवास हेतु इस पुरुषरूप मानवशरीर का ही चयन किया गया है तथा अन्य सब देवगण भी अपना आश्रय प्राप्त कर इस मानवशरीर में ही निवास करते हैं। (ऐतरेयोपनिषद्) अत: 'योग साधना' हेतु इस मानवशरीर को ही सर्वश्रेष्ठ **आसन** रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। अनवरत् रूप से चलनेवाले इस सृष्टिचक्र में अनश्वर जीवात्मा द्वारा अपने देहधारी पुरुष रूप में योगावस्था को प्राप्त करने का यही एकमेव उपयुक्त आसन होता है, जिसे पुरुषयोनि रूप में जाना गया है। इसी आधार पर संतवाणी एवं प्राचीन कथासाहित्य में - **'बड़े भाग मानुष तन पावा'** कहा जाकर, इस मानव शरीर का महत्व प्रतिपादित किया गया है। गीतावाणी कथन करती है कि योग की प्राप्ति हेतु आसन पर बैठने से पूर्व उस आसन पर - **'चैलाजिनकुशोत्तरम्'** (गीता ६.११) अर्थात् ''वस्त्र, मृगचर्म एवं कुश को क्रमश: बिछाकर बैठना अर्थात् योगाभ्यास करना चाहिए। योगमार्ग में ये तीनों ही वस्तुएँ प्रतीकार्थ को धारण करने वाली जानी गयी हैं। श्रुति कथन **'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते'** (केन.उप. २.४) आधार पर वस्त्र मानवदेह के वस्त्ररूप की स्मृति को, चर्म असंगता के गुण को एवं कुश धर्म के पालन को अपनाने का प्रतीक जाना गया है। प्राचीनकाल में साधकगण मृगचर्म या व्याघ्रचर्म का उपयोग आसनरूप में करते रहे हैं। इनमें मृगचर्म मन की चंचलता को तथा व्याघ्रचर्म हिंसकवृत्ति को प्रकट् करने वाला जाना गया है। अत: योग की प्राप्ति हेतु चारों ही वर्ण में जन्म को प्राप्त होकर मानवदेह के वस्त्ररूप को स्मरण रखते हुए, नित्यजीवन में असंगता या अनासक्ति के गुण को एवं मन की चंचलता एवं हिंसकवृत्ति के नियन्त्रण को और स्वधर्म पालन को आरम्भत: अपना लेना चाहिए। 'आसन' शब्द की व्युत्पत्ति- **'आस्यते अस्मिन् इति आसनम्'** (अर्थात् 'जिसमें बैठा जाय उसे आसन कहते हैं') रूप में होती है। अत: इस मानवदेह को ही सर्वश्रेष्ठ आसन होना स्वीकार करते हुए **प्राणायाम** रूप में श्वास-प्रश्वास आधारित प्राण के संचरण को ही योगयात्रा का साधनरूप होना जानकर; जिस प्रकार जल में भिगोकर, झाड़-फटकार करते हुए किसी वस्त्र को विकारमुक्त किया जाता है, उसी प्रकार प्राणवायु की शीतलता में अवगाहन करते हुए प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा रेचक एवं कुम्भक (आन्तरिक कुम्भक एवं बाह्य कुम्भक) प्रक्रिया को अपनाकर देहस्थ जीवात्मा की विकार रहित अवस्था को प्राप्त कर लेना चाहिए। जन्म-जन्मान्तर से धारण किये गये 'कर्म बन्धन' रूपी विकारों से स्वयं ही मुक्तावस्था प्राप्त कर लेना चाहिए।

और, जिस प्रकार नेति द्वारा दधिमन्थन करते हुए उसमें समाहित मखखन को प्राप्त कर लिया जाता है। उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास का नेति रूप में उपयोग करते हुए, मूलाधार के संकुचन एवं उदररूपी सागर की आलोड़न-विलोड़न प्रक्रिया द्वारा हृदयस्थ अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना चाहिए। (पौराणिक आख्यान समुद्र मंथन प्रक्रिया द्वारा अमृत को प्राप्त करने का यही रहस्य होना जाना गया है। विस्तृत विवेचन हेतु कृति **'स्नान रहस्य'** पठनीय है।)

यदि हम यम, नियम, आसन और प्रणायाम के इस चतुष्पाद् तात्त्विक स्वरूप को स्वीकार कर लेते हैं, इसे योग प्राप्ति हेतु अपना लेते हैं तो फिर महर्षि पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट यम-नियम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, आदि) का अनुपालन करते हुए और इस मानवदेह के वस्त्ररूप को स्मरण रखकर- **अहं ब्रह्मास्मीति** - अर्थात् ''मैं ही ब्रह्म हूँ'' की भावभूमि पर, **''सोऽहम्'** मन्त्र को अजपा रूप में तैलधारवत् अपना लेना तथा यह श्रुतिकथन कि- **स वा एष पुरुषविध एव।** (तैतिरी.उप. २.५.२) अर्थात् ''वह पुरुषरूप भी इस पुरुषरूप जैसा ही है'' को चित्त की भावभूमि पर दृढ़तापूर्वक धारण करते हुए स्वयं को अविनाशी आत्मा का प्रकट्रूप होना जानकर, स्वयं के आचरण की समुज्वल, शौर्ययुक्त, तेजोमय, धवलरूप, निर्विकार, अनासक्त, अवस्था को धारण करते हुए जीवनयापन करना ही इस मानव जीवन की योगमय अवस्था को धारण करने का साधन हो जाता है। यह यहीं पर उस परमेश्वर को अपने विराट्रूप में प्राप्त कर, स्वयं की लय अवस्था को प्राप्त करने का साधन बन जाता है- **अत्रैव समवनीयन्ते।** (बृह.उप. ३.२.११) यही अपने अविनाशी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर इस एक मानवजन्म में जन्म-चक्र से मुक्त हो जाना होता है। और, इस प्रकार प्राप्त की गयी यह जीवनमुक्त अवस्था ही वेदवाणी में दिये गये निर्देश कि 'हम अदीन होकर अपना जीवन व्यतीत करें।' (यजुर्वेद २६.२४.) का अनुपालन करने में सहायक हो जाती है। यह इस मनुष्यरूप जीवनयात्रा के लक्ष्यको पूर्णता प्रदान करने वाली हो जाती है।

४.१(१०) इस योगावस्था की प्राप्ति हेतु पूर्वतर **'आत्मानुभूति'** (परम तत्व अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार), **'ज्ञानभूमि के सप्त सोपान'** एवं **'स्नान रहस्य'**, ग्रन्थ त्रयी में विस्तार से विचार किया गया है। अत: महर्षि पतंजलिकृत योग की इस परिभाषा एवं योगावस्था की प्राप्ति हेतु चित्तवृत्ति की निरोध प्रक्रिया पर यहीं विराम को अपनाया जाता है।

४.२ योग की द्वितीय परिभाषा- **'समत्वं योग उच्यते'** - अर्थात् 'समता के भाव को योग कहते हैं।' गीताशास्त्र (२.४८) में आयी है। योग की यह परिभाषा जागतिक जीवन की

सर्वावस्था में, सर्वांगीण रूप से अविचलित बनें रहकर, बुद्धि की स्थिरता रूप में 'समता का भाव' धारण करने की अपेक्षा करती है। अत: योग की यह परिभाषा 'ज्ञान योग' की आधारभूमि को धारण करने वाली जानी जाती है।

यह परिभाषा सूत्र रूप में प्रकट करती है कि जिस प्रकार स्फटिक का पत्थर सर्वास्था में अपनी शान्त एवं शीतल प्रकृति को धारण करने वाला होता है। भिन्न-भिन्न भाव एवं दृश्य को धारण एवं प्रकट करता हुआ भी अपनी मूलप्रकृति में आकाशवत् निर्विकार, निश्चल, असंग एवं शीतल बना रहता है। ठीक उसी प्रकार मानवजीवन में आने वाली समस्त परिस्थितियों में; प्राप्त होने वाली सफलता और असफलता में तथा अनुभव की जाने वाली सुख-दु:ख, मान-अपमान और जय-पराजय की अवस्था में, कर्म करते हुए सदैव ही स्थिरमति, शांत एवं प्रसन्नचित्त बनें रहना चाहिए। इस प्रकार धारण की गयी मन:चेतना (अन्त:करण) की निर्द्वन्द, सम एवं शीतल अवस्था ही योग कही जाती है। इस प्रकार योग की यह परिभाषा वायु के क्षणिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाली 'जल तरंग' की भाँति स्वयं की विचलित अवस्था को न अपनाकर, अविनाशी आत्मा द्वारा धारण किये गये लक्षण- **अचलोऽयम् सनातन:** को अपनाते हुए नित्यजीवन की कर्मरत अवस्था में सदैव ही अडिग, तत्पर एवं कर्मनिष्ठ बने रहना ही योग होना कथन करती है। यह जीवन की सर्वावस्था में हर्ष एवं विशाद से परे रहकर, मनश्चेतना को दृढ़तापूर्वक 'समता के भाव' स्थित किये रहना ही योग को प्राप्त करना प्रकट् करती है।

४.२(१) योग की इस गीतोक्त परिभाषा को भलीभाँति समझने अथवा जानने के लिये आवश्यक है कि इस परिभाषा के साथ पूर्वपीठिका रूप में आये विवरण पर भी विचार किया जावे। इस अवसर पर पूर्वपीठिका रूप में गीतावाणी वर्णन करती है कि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।
योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता २.४७व ४८ ।।

अर्थात् - "हे धनंजय! तुम्हारा अधिकार तो कर्म का निष्पादन करने में ही है, किसी भी अवस्था में उसके फल (कर्मफल) के भोगने में नहीं। तुम कर्मफल की आशा से कर्म में प्रवृत्त

मत होओ, (और) कर्म के परित्याग में भी तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। तुम योग में स्थित होकर तथा कर्मफल के प्रति आसक्ति को छोड़कर कर्म करो। कर्म के परिणामस्वरूप सिद्धि प्राप्त हो अथवा असिद्धि; दोनों ही अवस्थाओं को एक जैसा समझकर, धारण किया गया 'समता का भाव ही योग कहा जाता है।''

इस प्रकार योग की यह परिभाषा ''ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्मचेष्टा'' की पृष्ठभूमि को धारण करने वाली है, जिसे 'अष्टांग योग साधना' में महर्षि पतंजलि द्वारा 'नियम' रूप में ईश्वर प्रणिधान को अपनाना कहा गया है। यह परिभाषा मनुष्यमात्र को (अपने स्त्री-पुरुष रूपमें) उस परमेश्वर के विराट् कर्तापुरुष रूप का प्रकट् अङ्ग होना सूचित करती है तथा अनुदेश देती है कि स्वयं की देहरूप से आबद्ध अवस्था को अपनाकर न तो कर्मफल के प्रति आसक्ति को अपनाया जावे और न कर्म के प्रति अरुचि या वैराग्य को ही धारण किया जावे। अपितु कर्म की सफलता और असफलता दोनों को एक समान समझते हुए तथा दोनों ही अवस्थाओं में चित्तवृत्ति को शांत बनाये रखकर कर्म का निष्पादन किया जावे। इस प्रकार धारण किया गया समता का भाव एवं ईश्वरनिष्ठा ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। चूंकि यह समस्त जगत् उस परमात्मा का प्रकट्रूप है तथा सर्वरूप में किये जाने वाले सकल कर्म का भोग करने वाला भी वह एक परमेश्वर ही है- **भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।** (गीता ५.२९) अत: अन्त:स्थ पुरुष के इस विराट् कर्तापुरुष रूप और उसके भोक्ता स्वरूप को जानकर अपने समस्त कर्मों का निष्पादन करना ही मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। इस प्रकार स्वकर्म का निष्पादन करते हुए सर्वरूप ईश्वर के प्रति कर्म के समर्पणभाव को अपनाना तथा कर्म की असफलता और सफलता में भी मन की उद्वेगरहित, शांत एवं सम अवस्था को धारण करना ही योग को प्राप्त करना कहा गया है।

गीतावाणी में आगे स्पष्ट किया गया है कि- 'की गयी कामना या फलाकाँक्षा के पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है; क्रोध मूढ़ता को जन्म देता है; मूढ़भाव से स्मृतिभ्रम पैदा हो जाता है; स्मृतिभ्रम हो जाने पर बुद्धि का नाश हो जाता है तथा बुद्धि का नाश हो जाने पर यह पुरुष भी विनाश को प्राप्त करता है।' (गीता २.६३) अत: सर्वावस्था में स्वप्रज्ञा की शान्त एवं सम अवस्था को धारण किये रहना ही योग की प्राप्ति है। पुरुषरूप की षोडश कला अवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखना है। श्रीमद्भगवद्गीता के 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नाम नवम् अध्याय में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण का कथन है कि- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।** (गीता ९.२४) अर्थात् ''मैं स्वयं सब यज्ञों (कर्मों) का भोक्ता हूँ और स्वामी भी मैं ही हूँ।'' अत:

अन्त:स्थ पुरुष को अपना स्वामी तथा इस देहधारी पुरुषरूप को उसका सेवक मानकर, स्वयं की कर्मरत अवस्था को अपनाना ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। इस अवस्था को जाननें में श्रीरामभक्त पवनपुत्र हनुमान का यह निम्न कथन भी हमारी सहायता करता है:-

देहदृष्टया तु दासोऽहम् जीवदृष्टया त्वदंशक:।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता: मति:।।

अर्थात् - "देहदृष्टि से मैं दास हूँ। जीवदृष्टि से आपका अंश हूँ एवं पारमार्थिक दृष्टिकोण से जो आप हैं, वही मैं हूँ- यही मेरी निश्चित धारणा है।"

इस प्रकार सर्वावस्था में कर्मनिष्ठा को अपनाना, कर्मफल का परित्याग करते हुए ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्मचेष्टा को धारण करना और मन की शान्त एवं सम अवस्था को धारण करना ही योग की प्राप्ति है।

४.२(२) इस प्रकार योग की यह परिभाषा "जीवनयात्रा के प्रत्येक सोपान पर स्वकर्तव्यकर्म का पालन करने, दृढ़तापूर्वक कर्मका निष्पादन करने, आसक्ति, प्रलोभन, अरूचि या अवरोध के कारण कर्तव्यकर्म का परित्याग नहीं करने एवं कर्म करते समय सदैव ही अन्त:स्थ पुरुष से सायुज्यता को धारण करने एवं सर्वावस्था में समता का भाव धारण करना ही 'योगावस्था को प्राप्त करना' कथन करती है।" उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा वर्णन किया गया हैं कि 'आरम्भ में वह एकमात्र पुरुषरूप परमात्मा (आत्मा) ही था। अन्य कुछ भी नहीं था। निश्चय ही मैं लोकों की संरचना करूँ; इस प्रकार का विचार करके ही उस परमात्मा द्वारा समस्त लोक, लोकपाल एवं समस्त चर-अचर भूत समुदाय की .... सृष्टि रूप में संरचना की गयी है।' (ऐतरेयोपनिषद्) अत: सृष्टि-यज्ञ का आधार कर्म ही है। यह कर्म उस परमात्मा के कर्ताभाव से उत्पन्न होता है। कर्म का निष्पादन करने हेतु ही वह परमात्मा हस्त रूप में क्रियाशक्ति को धारण कर स्थित है- **कर्मेति हस्तयो:**। (तैत्ति.उप. ३.१०.२) अत: इस जगत् में मनुष्य का अस्तित्व कर्म करने के लिये ही है। दर्शनग्रन्थ इस धरा पर मनुष्यमात्र का अस्तित्व सृष्टियज्ञ हेतु होना वर्णन करते हैं - **पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्**। (पूर्वमीमांसा दर्शन ३.१.६)। जिस प्रकार यज्ञाग्नि में डाली गयी आहुति भस्मीभूत हो जाती है तथा परिणाम स्वरूप कोई भी उपयोगी वस्तु प्राप्त न होकर केवल भस्म बची रहती है, उसी प्रकार कर्मफल की अपेक्षा न करते हुए कर्म के समर्पण भाव को अपना लेना, या यज्ञाग्नि में आहुति डालते समय बोले जाने वाले शब्द **'इदं न मम'** को अपनाना ही मनुष्यजीवन का प्रयोजन होना वर्णन करते हैं। सृष्टि-जगत् में कर्म के

उद्‌भव की इस मूलभूत अवस्था को ही गीतावाणी में **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।'** (गीता ३.१५) कहा जाकर, यज्ञरूप कर्म (= फलासक्ति से रहित कर्म) को ही ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होना वर्णन किया गया है। यज्ञाहुति रूप में कर्म का समर्पण अपनाना ही योगावस्था को प्राप्त करने का साधन होना प्रकट किया गया है। मानव जीवन में कर्म की अनिवार्यता को प्रकट करते हुए आत्मपुरुष, योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन हैं कि ''इन तीनों ही लोक में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त ही है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ।'' अत: स्वयं के पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूपमें समानधर्मी बनकर कर्म को अपनाना तथा कर्म करते हुए प्रिय अथवा अप्रिय, सम अथवा विषम, सुखप्रद अथवा दु:खदायी परिस्थितियों के आने पर अविचलित बने रहकर, शांतचित्त अवस्था में 'समता का भाव' धारण किये रहना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करना है। योगावस्था को प्राप्त करने का यह सहज, सरल एवं सर्वसुलभ उपाय है। इस प्रकार स्वकर्म को जिसे गीतावाणी में **'नियतं कुरु कर्म'** (गीता३.८) कहा गया है, को अपनाना तथा कर्म का निष्पादन करते हुए स्वयं की अचल, अविचलित अवस्था को धारण करना (= सम्मुख कर्म की प्रकृति या स्वरूप को जानकर अप्रभावित बनें रहना) ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है।

४.२(३) योग की यह परिभाषा आत्मपुरुष, योगेश्वर श्रीकृष्ण के गीतोक्त कथन - **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:'** - (गीता ९.२९) अर्थात् 'मैं सब प्राणियों में समान हूँ; मुझे न किसी से द्वेष है और न कोई प्रिय ही है।'' को लक्ष्य रूप में अपनाना संसूचित करती है, जिसे समदर्शी होना कहा गया है। इस सृष्टि-जगत् में प्रकट् हुआ समस्त चर-अचर भूतसमुदाय समुद्र और उसकी तरंग की भाँति भिन्नता को धारण करने वाला जाना जाता है। जिस प्रकार अपरिमित, अथाह जलराशि एवं उत्ताल जल तरंगों को धारण करता हुआ समुद्र सर्वावस्था में समुद्र ही कहा जाता है तथा वायु के वेग से प्रभावित होकर ही समुद्रजल अपने स्वभाव के कारण ही अपनी उच्च अथवा निम्न तलीय अवस्था को धारण कर लेने पर समता से वंचित हुई वह जलराशि ही अपनी पृथक् अवस्था में तरंग या लहर रूप में जानी जाती है, वही अवस्था इस देहस्थ जीवात्मा की होती है। यह अविनाशी आत्मा देहरूप से आबद्ध अवस्था में धारण की गयी भिन्नता के आधार पर ही पृथक्-पृथक् हुआ सा जाना जाता है। जागतिक धरातल पर यह नाना शरीर, नाना रूप, नाना वर्ण एवं नाना आकृति को धारण करने वाला- **नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।** (गीता ११.५) होता है। अत: सर्वावस्था में धारण की गयी इस भिन्नता में उस एक परम अक्षर पुरुष परमात्मा को समुद्रवत्

उपस्थित देखना और जगत्रूप क्रीड़ाकर्म में परस्पर राग-द्वेष रहित अवस्था को धारण करते हुए आचरण की समता एवं मधुरता को धारण करना अर्थात् समदर्शी हो जाना ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है।

४.२(४) योगावस्था की प्राप्ति हेतु अपेक्षित यह 'समता का भाव' ही बौद्ध दर्शन में **'मध्यम मार्ग'** कहा जाकर अभिव्यक्ति को प्राप्त होना प्रकट होता है। नित्यआचरण में 'समत्व के भाव' को अपनाकर हम किस प्रकार इस योगावस्था को प्राप्त करें? इस हेतु प्राचीन पुराण साहित्य में आया 'तुलाधार वैश्य तथा जाजलि मुनि' का आख्यान हमारी सम्यक् सहायता करता है। जाजलि मुनि और तुलाधार वैश्य के इस प्राचीन आख्यान में पुराण कथाएँ वर्णन करती हैं कि अतिप्राचीन काल में जाजलि मुनि द्वारा योगावस्था (आत्मतत्त्व) को प्राप्त करने हेतु कठिन तप किया गया। तप:क्रिया के अन्तर्गत उनके द्वारा गहनवन में जाकर एकान्तवास करते हुए खुले आसमान तले धूप, बरसात एवं ठंड को काष्ठवत् सहन करते हुए गहन तपस्या की गयी। किन्तु वे अविनाशी आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में असमर्थ रहे। अन्तत: आकाशवाणी (अन्तर्बोध) का आश्रय लेकर उनके द्वारा तुलाधार वैश्य से सर्वरूप, अविनाशी, अव्यय, आत्मा का उपदेश ग्रहण किया गया। (महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६१एवं परवर्ती विवरण पठनीय) इस प्रकार यह 'समत्व का भाव' तुलारूप अवस्था को धारण करने वाला होता है।' महाभारत कथा में आया यह आख्यानरूप वर्णन कि "चलते समय धर्मराज युधिष्ठिर के रथ के दोनों ही पहिए हवा में रहते थे; वे जमीन को स्पर्श नहीं करते थे।" आचरण की इस तुलारूप समअवस्था को सूचित करने वाला प्रकट् होता है। जिस प्रकार नित्यव्यापार में तराजू के दोनों ही पलड़ों की सम अवस्था को अपनाना आवश्यक होता है। तराजू की यह समअवस्था ही जागतिक व्यापार का आधार बनकर किसी वस्तु के आदान-प्रदान या क्रय-विक्रय का आधार बनकर परस्पर सौमनस्यता का भाव प्रदान करती है। जीवन की गतिशील अवस्था में सुखप्राप्ति का आधार बनती है। उसी प्रकार नित्यआचरण में, प्रतिपल राग-द्वेष या पक्षपात रहित अवस्था में समता का भाव धारण करना ही इस पुरुषरूप मानवदेह में (स्वयं के स्त्री-पुरुष रूप में) निवास करते हुए योगावस्था को प्राप्त करने में सहायक होता है।

४.२(५) इस प्रकार धारण किया गया यह 'समता का भाव' ही योगावस्था रूप में परब्रह्म स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना होता है। जिसे प्रकट करते हुए गीतावाणी स्वयं वर्णन करती है कि-

इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन: ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता: ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित: ।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता ५.१९ व २० ।।

अर्थात्- "जिनका मन रूपी अन्त:करण समता के भाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; अर्थात् वे जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिये (समता के भाव को अपनाकर) वे उस सच्चिदानन्दस्वरूप पर ब्रह्म में ही स्थित हैं।

(अत: जो) प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं होवे एवं अप्रिय के प्राप्त होने पर उद्वेग अथवा द्वेषभाव को नहीं अपनावे, वह मूढ़तारहित, स्थिरबुद्धि पुरुष, ब्रह्मविद् अवस्था को प्राप्त होकर, ब्रह्म में स्थित है।"

इस प्रकार नित्यजीवन में परस्पर राग-द्वेष रहित हो जाना, जिसे प्राचीन कथासाहित्य में सगुण ब्रह्म श्रीराम द्वारा अपने पुरुषरूप में तथा शक्तिस्वरूपा देवी दुर्गा द्वारा अपने स्त्रीरूप में अर्थात् 'पुरुष तत्त्व' के उभयरूप द्वारा **मधु एवं कैटभ** नामक राक्षसों का वध करना वर्णन किया गया है। इस राग-द्वेषरहित अवस्था को अपने पुरुष और स्त्री रूप में धारण कर लेना ही योगावस्था रूप में परब्रह्म स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना है।

४.३ योग की तृतीय परिभाषा- **'योग: कर्मसु कौशलम्'** - अर्थात् "कर्म में प्रवीणता (श्रेष्ठता) धारण करना ही योग है।" गीतावाणी (२.५०) में आयी है। योग की यह परिभाषा समत्व का भाव धारण करते हुए स्वकर्म की प्रवीणता या कर्म की श्रेष्ठता अर्थात् दक्षता को अपनाने की अपेक्षा करती है। जिस प्रकार क्रीड़ारत अवस्था में सब खिलाड़ी समता को धारण करने वाले होते हैं। किन्तु क्रीड़ांगण में धारण की गयी श्रेष्ठता अथवा प्रवीणता (दक्षता) ही किसी खिलाड़ी की परिचायक होकर, पूर्णता के गुण को प्रकट करने वाली जानी जाती है। उसी प्रकार स्वयं के पुरुषरूप में स्वकर्म को अपनाकर (समान रूप अवस्था में) स्वकर्म की श्रेष्ठता को अपनाना या स्वकर्म में प्रवीणता को धारण करना ही योग की प्राप्ति है। उस विराट्रूप कर्तापुरुष परमात्मा से अपनी सायुज्यता को प्राप्त कर लेना है।

उपनिषद् वाणी में श्रुति का कथन है कि 'उस परमात्मा ने स्वयं को ही जगत् रूप में प्रकट् किया है। यह समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् उसका ही प्रकटरूप है। यहाँ जो **'सुकृत'** है, अर्थात् अपनी पूर्णता में जो सुघड़ता पूर्वक किया गया श्रेष्ठकर्म है, या जो श्रेष्ठ कर्मकर्तारूप है वह उस परमात्मा का ही प्रकट रूप है- **असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।**

तदात्मानँ स्वयमकुरुत । तस्मात्तात्सुकृतमुच्यत इति । (तैत्तिरी.उप. 2.7.1) अर्थात् - ''प्रकट होने से पहले यह जड़-चेतनात्मक जगत् असत् अर्थात् अव्यक्तरूप में ही था । उससे ही सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत् उत्पन्न हुआ है । उसने अपने को स्वयं इस रूप में प्रकट् किया है । इसीलिये वह 'सुकृत' कहा जाता है ।'' इस भू-लोक रूपी कर्मक्षेत्र में जो कार्य विचारपूर्वक, भली भाँति, दोष रहित अवस्था में पूर्ण किया जाता है वह लोकहितकारी कार्य ही **सुकृत** कहा गया है । उसे ही यज्ञरूप माना गया है- **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** । अत: कर्म की श्रेष्ठता को अपनाना ही स्वयं के पुरुषरूप में विराट्‌रूप कर्तापुरुष परब्रह्म परमेश्वर से अपनी सायुज्यता को प्राप्त कर लेना होता है । और यही स्वयं के **'अहं ब्रह्मास्मिति'** स्वरूप को धारण करते हुए अतिगूढ़ पर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना भी - **'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्** ।' (श्रीमद्भागवत 7.10.48)

४.३(१) श्रीमद्भगवद्गीता के दशम् अध्याय में आये विभूतियोग वर्णन में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण द्वारा 'समान अवस्था में जो श्रेष्ठ है, उसको ही अपना प्रकटरूप होना वर्णन किया गया है।' तथा कथन किया गया है कि '(इस सृष्टिजगत् में) जो-जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त है, उस-उस को तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान ।' (गीता १०.४१) अत: स्वयं की मनुष्यरूप अवस्था में कर्म की श्रेष्ठता को धारण करना ही उस परमेष्वर के तेजोमय स्वरूप को प्राप्त करने एवं धारण करने का सर्वसुलभ साधन होता है। जिसे गीतावाणी में **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:'** (गीता १८.४५) अर्थात् ''अपने स्वाभाविक कर्म में तल्लीनतापूर्वक लगा हुआ पुरुष परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।'' एवं **'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा'** (गीता ४.१२) अर्थात् 'मनुष्य लोक में कर्म के द्वारा शीघ्र ही सिद्धि (स्वआत्मस्वरूप का बोध) प्राप्त हो जाती है ।' कहा जाकर प्रकट किया गया है । इस सृष्टि-जगत् में सब मनुष्य अपनी उत्पत्ति का एक समान आधार लिये हाते हैं। सब की शरीर संरचना भी एक जैसी होती है। सब मनुष्य एकरूप होकर समानता का गुण धारण करते हैं। सब जन्मचक्र की पूर्णता को प्राप्त किये होते हैं। तथापि कर्म एवं विचार की श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट (घृणित) अवस्था को अपनाकर ही वे अपने पुरुषरूप (स्त्री-पुरुष रूप) की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता या क्षुद्रता को प्राप्त करने वाले जाने जाते हैं। संस्कार सम्पन्न, श्रेष्ठ अथवा जंगली कहे जाते हैं । अत: नित्यआचरण में कर्म की श्रेष्ठता (प्रवीणता) को धारण करना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना है ।

४.३(२) बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रुति का कथन है कि ''आरम्भ में एक ब्रह्म ही था। अकेला होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। .... अत: कर्म की विभूतियुक्त अवस्था को प्राप्त (धारण) करने हेतु उसके द्वारा चारों ही वर्ण तथा उनके धर्म

(कर्म) की रचना की गयी है।'' (बृह.उप. १.४.११ से १४) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षा-वल्ली में आचार्य का उपदेश है कि- **'कुशलान्न प्रमदितव्यम्'** (तैत्ति.उप. १.११) अर्थात् ''कर्म की कुशलता (दक्षता) को धारण करने पर, प्रमाद को नहीं अपनाना चाहिए।'' अत: स्वयं के पुरुषरूप में चारों ही वर्ण में जन्म लेकर स्वकर्म की दक्षता, श्रेष्ठता या विभूतियुक्त अवस्था को धारण करना और स्वयं की योग्यता का प्रमाद अथवा घमण्ड नहीं करना एवं आचरण की सरलता को धारण कर लेना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करने का सबसे सरल योग मार्ग होता है। चूंकि इस मानव देह में वह कर्तापुरुष अपनी 'सोलह कला' (षोडश कल) अवस्था में स्वयं ही हस्त रूप में प्रतिष्ठित होकर कर्म को अपनाने वाला है- **कर्मेति हस्तयो:**। (तैत्ति.उप. 3.10.2) तथा इन दोनों हाथों के द्वारा पूर्णता को प्राप्त करने वाला कर्म ही उसका प्रकट्रूप है- **'क्रियाऽऽकृति:'** (श्रीमद्भागवत 6.4.46) इस कर्मलोक में यह अपने द्वारा किये गये कर्म के द्वारा ही 'नामधारी पुरुष' (स्त्री-पुरुष) रूप में जाना जाता है। अत: कर्म की निर्दोष पूर्णता को अपनाना ही इस कर्मलोक में उस परमेश्वर की अर्चना का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुलभ साधन होता है। योगावस्था को प्राप्त करने का साधन होता है।

4.3(3) उपनिषद् वाणी में श्रुति ने अतिसूक्ष्म आत्मा को ही 'धर्म' कहा है- **अणुरेष धर्म:** (कठ.उप. 1.1.21) तथा इस आत्मा को ही कर्म करने की शक्ति के रूप में हाथों में स्थित होना वर्णन किया गया है- **कर्मेति हस्तयो:**। (तैत्ति.उप. 3.10.2) और दोनों हाथों को ही ग्रह रूप में वर्णन करते हुए किये गये कर्म द्वारा ही इस मानवदेहधारी पुरुष (स्त्री-पुरुष) को ग्रसित होने वाला वर्णन किया गया है- **हस्तौ वै ग्रह: स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति।** (बृहदारण्यकोपनिषद् 3.2.8) (अनुवाद) ''हस्त ही ग्रह हैं; वे कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत हैं; क्योंकि प्राणी हस्त से ही कर्म करता है।'' इस प्रकार श्रुति **'कर्म'** को ही सूर्य रूप जीवात्मा या चन्द्रमा रूपी मन के लिये ग्रहणयोग का कारण होना वर्णन करती है। कर्म के द्वारा प्रखरता या मलिनता को प्राप्त करना वर्णन करती है। अत: अविनाशी आत्मा के मित्र एवं शत्रु रूप को ध्यान में रखते हुए कर्म के श्रेष्ठ स्वरूप को अपनाना योग की प्राप्ति हेतु अपेक्षित होता है। चूंकि यह जगत् कर्म के द्वारा धारण किया जाता है तथा कर्म को धारण करना ही इस आत्मा का लक्षण जाना जाता है तथा इस जगत् में धर्म ही कर्म की उत्पत्ति का आधार होता है। अत: स्वकर्तव्य या कर्तव्यकर्म का पालन करना ही धर्म का पालन करना होता है तथा सद्कर्म को अपनाना ही मित्रता को धारण करने का कारण बन जाता है। यदि हम स्वकर्तव्य कर्म का पालन नहीं करते हैं या कर्म की श्रेष्ठता को नहीं अपनाते हैं तो यही इस अविनाशी आत्मा के शत्रुरूप को प्राप्त करने का कारण हो जाता है जिसके आधार पर ऋषि कथन- **'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो**

रक्षति रक्षितः' को भलिभाँति जाना जा सकता है अतः धर्म रूपी आत्मा या अविनाशी आत्मा को प्राप्त करने हेतु आवश्यक है कि स्वयं के द्वारा किये जाने वाले कर्म की श्रेष्ठता या दक्षता को अपनाया जावे तथा कर्तव्यकर्म की अवहेलना (उपेक्षा) कदापि न की जावे।

इस प्रकार योग की यह परिभाषा स्वयं के मनुष्यरूप में, स्वयं की निर्विकार ब्रह्मरूप अवस्था में - **निर्दोष हि समं ब्रह्म** - जागतिक धरातल पर आत्मविकास की प्रक्रिया को अपनाकर कर्म की श्रेष्ठता को धारण करने की अपेक्षा करती है। जिस प्रकार आम के वृक्ष पर लगने वाले सब फल, आम के समस्त गुणों को आरम्भतः दोषरहित अवस्था में धारण करने वाले होते हैं; तथापि अविकसित अवस्था में वे 'आम' रूप में जाने नहीं जाते हैं। अपनी पूर्ण विकसित रसमय, स्वर्णिम आभायुक्त, परिपक्व, सुकोमल (गुदगुदी) अव्यय अवस्था को प्राप्त कर लेने पर ही वे आम्रफल या 'आम' कहे जाते हैं। ठीक उसी प्रकार यह अक्षर पुरुष ब्रह्म भी अपने पुरुषरूप (स्त्री-पुरुष रूप) में जन्म लेकर स्वयं की निर्दोष ब्रह्मरूप अवस्था को धारण करता हुआ देहरूप से आबद्ध अवस्था में आत्मविकास की प्रक्रिया को अपनाने वाला जाना जाता है। यह आम्रफल की भाँति प्रवृत्तिमार्ग को अपनाकर (स्वयं की विकासरत अवस्था में) वाणी की रसमय मधुरता, आचरण की सुकोमलता एवं चरित्र की निर्मल प्रभा (आभामय अवस्था) को प्राप्तकर अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करने वाला तथा निवृत्तिमार्ग अर्थात् आचरण की सुकोमल रसमय अनासक्त अवस्था को अपनाकर इस अविनाशी संसारवृक्ष के बन्धन से स्वयं ही मुक्त होने वाला जाना जाता है। अतः प्रवृत्तिमार्ग को अपनाकर कर्म की श्रेष्ठता को धारण करना एवं निवृत्तिमार्ग रूप में अनासक्त अवस्था को अपना लेना ही अपने मूल आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना है। आत्मविकास की इस प्रक्रिया को अपनाकर ही यह अविनाशी आत्मा अपने जीवात्मा रूप में नाना सर्ग एवं नाना योनियों में जन्मप्रक्रिया को धारण करने वाला होता है तथा अपने पुरुष (स्त्री-पुरुष) रूप में 'सोलह कला' अवस्था को प्राप्त होकर यह जन्म-चक्र की पूर्णता को प्राप्त करता हुआ गुणात्मक वृद्धि को अपनाने वाला जाना जाता है। स्वयं की अव्यय अवस्था को प्राप्त करने वाला जाना जाता है। चारों ही वर्ण में जन्म लेकर यह स्वयं के ब्रह्मरूप में, परब्रह्म स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने वाला होता है। अतः योगावस्था रूप में स्व- आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु कर्म की दक्षता एवं सरल स्वभाव को धारण करना आवश्यक हो जाता है। (आम्रफल की इस विकासयात्रा एवं पुरुषरूप के विस्तृत विवेचन हेतु कृतिद्वय- १. **आम्रफल का दिव्य संदेश**, तथा **पुरुष तत्त्व की सोलह कलाएँ एवं पति-पत्नी का प्रकट् रूप**, पठनीय।)

४.३(४) इस प्रकार योग की यह परिभाषा गीतावाणी में आयी पूर्व परिभाषा **'समत्वं योग उच्यते'** को उभयरूप पूर्णता प्रदान करने वाली प्रकट होती है। जिस प्रकार किसी मुद्रा के प्रचलन हेतु उस मुद्रा पर राजचिह्न के साथ-साथ मूल्य का अंकित होना आवश्यक होता है तथा उस अंकित हुए मूल्य के अनुसार ही वह मुद्रा प्रचलन में जानी जाती है; उसी प्रकार **अहं ब्रह्मास्मीति** अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' या **'तत्त्वमसि'** अर्थात् 'वह ब्रह्म तुम स्वयं हो' की भावभूमि पर योगावस्था को धारण करने हेतु 'समता की भावभूमि' के साथ-साथ 'कर्म की श्रेष्ठता' को धारण करना भी आवश्यक हो जाता है।

यहाँ पूर्वपीठिका रूप में गीतावाणी में कथन किया गया है कि-

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता २.४९-५० ।।

अर्थात् - "हे धनंजय! केवल कर्म (काम्य कर्म) हेतु इस समता रूपी बुद्धियोग को अपनाना अत्यन्त ही निकृष्ट है, अतः तुम निष्काम होकर समबुद्धि की शरण लो अर्थात् हर विषय में (प्रत्येक अवसर पर) समता का भाव धारण करो। जो लोग केवल फल की अपेक्षा में कर्म करते हैं, वे बहुत ही दीन (कृपण, दया के पात्र) हैं।

समबुद्धियुक्त निष्काम कर्मयोगी अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के कर्मों को यहीं छोड़ जाता है अर्थात् वह इसी लोक में कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस कारण तुम समबुद्धियुक्त कर्मरत अवस्था को प्राप्त करो; (क्योंकि) कर्म का कौशल अर्थात् कर्म की श्रेष्ठता या प्रवीणता को धारण करना ही योग है।"

४.३(५) हम कर्म की श्रेष्ठता को अपनाकर समानधर्मा बन जावें, स्वयं के मनुष्यरूप में इस सृष्टिचक्र को गति प्रदान करने वाले हो जावें, पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति आधार पर इस सृष्टि-जगत् में प्रत्येक कार्य दोषरहित पूर्णता के गुण को धारण करने वाला हो जावे, अतः वेदवाणी का कथन है कि -

विष्णोः कर्माणि पष्यत यतो व्रतानि पस्पषे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा।। (ऋग्वेद १.२२.१९)

(शब्दार्थ) = सर्वव्यापक परमात्मा के (**विष्णो:**), कार्यों को (**कर्माणि**), तुम देखो (**पष्यत**), जिसके द्वारा (**यतो**), व्रतों अर्थात् कार्यों को (**व्रतानि**), कर सको (**पस्पश**), परमात्मा का (**इन्द्रस्य**), जुड़ा हुआ (**युज्य:**), साथी बन सको (**सखा**)।

(अर्थात्) - '(हे मनुष्यों!) तुम सर्वव्यापक परमात्मा के कार्यों को सर्वत्र ही देखो और उसके अनुसार अपने कर्मों को दोषरहित अवस्था में पूर्ण करो। ऐसा करके तुम उस परमात्मा से जुड़कर, उसका सखाभाव प्राप्त करो।''

अत: कर्म की श्रेष्ठता को अपनाकर समानधर्मा रूप में इस सखाभाव को प्राप्त कर लेना ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना होता है।

४.३(६) इस प्रकार योग की यह परिभाषा इस सृष्टियज्ञ से जुड़कर तथा निष्काम भाव को अपनाकर दोषरहित अवस्था में कर्म का निष्पादन करना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना प्रकट करती है। यह चित्त की समता एवं कर्म की कुशलता को योग की प्राप्ति हेतु आवश्यक मानती है। इस अवस्था में यहाँ यह एक सामान्य प्रश्न उपस्थित होता है कि- क्या चोर कर्म अथवा ठगी के कार्य में धारण की गयी प्रवीणता (श्रेष्ठता) भी योगावस्था को प्राप्त कर लेना है? इस प्रश्न के समाधान हेतु गीतावाणी स्वयं हमारी सहायता करते हुए आगे वर्णन करती है कि '(प्रत्येक मनुष्य) अपना उद्धार आपही करे; स्वयं को अधोगति में नहीं डाले। क्योंकि यह अविनाशी आत्मा आप ही तो अपना मित्र है और यह आप ही अपना शत्रु भी है।' (गीता ६.५) योगीजन इस जगत् में सद्कर्म एवं सद्भाव को अपनाना ही अविनाशी आत्मा से मित्रता का कारण होना तथा परस्पर राग-द्वेष एवं असद्कर्म को अपनाना ही शत्रुता को प्राप्त करना कथन करते हैं। अत: सद्कर्म को अपनाकर स्वकर्म की श्रेष्ठता को धारण करना ही इसका मित्ररूप होना एवं असद्कर्म को अपनाना ही इसका शत्रुरूप होना जाना जाता है। (अपने आत्मा के इस शत्रुभाव को ही व्यक्तिपरक रूप में पृथक्ता प्रदान करते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा इस जगत् में 'शैतान का अस्तित्व' होना स्वीकार किया गया है।)

इस प्रकार यदि हम चौरकर्म की श्रेष्ठता को अपनाकर इसे ही योगावस्था को प्राप्त करना कथन करते हैं, तो यह इस योगावस्था के कृष्णपक्ष (शत्रुपक्ष) या शत्रुरूप को अपनाना है। किन्तु यदि यही चौरकर्म छद्मवेष को धारण कर किसी राजपुरुष द्वारा जनकष्ट निवारण हेतु अपनाया जाता है तो यह इसका उजलापक्ष होना जाना जाता है। कारण कि राजपुरुष का परम धर्म दु:खियों का दु:ख दूर करना वर्णन किया गया है- **एष राज्ञां परो धर्मो**

ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः। (श्रीमद्भागवत १.१७.११) अत: इसी आधार पर अविनाशी पुरुषतत्त्व की चौंसठ कलाओं में 'चोर कर्म' को भी संगणित किया जाना प्रकट् होता है। तथा, इस उत्तरायण एवं दक्षिणायन अवस्था आधार पर ही योगावस्था को प्राप्त पुरुष को लौटने वाला और नहीं लौटने वाला जाना जाता है। (गीता ८.२३) यहाँ इसके साथ यह भी विचारणीय है कि गीतावाणी में 'योग' को दु:खों का नाश करने वाला'- **'दुखहा'** (गीता ६.११) कहा गया है। जबकि चोर कर्म या ठगी के कार्य में धारण की गयी श्रेष्ठता दु:ख का कारण बनती है। यह प्रभावित व्यक्ति को तो दु:ख देती ही है तथा पकड़े जाने पर स्वयं चोर व्यक्ति या ठगीकर्ता के लिये भी दु:खभोग का कारण उपस्थित कर देती है। उपनिषद्वाणी कथन करती है कि - 'वह परमात्म तत्त्व सब के लिये मुदिता को प्राप्त करने का कारण होता है- **स मोदते मोदनीयँ् हि लब्ध्वा।**' (कठ.उप. १.२.१३) अत: चोर कर्म या ठगी के कार्य में धारण की गयी निपुणता अथवा श्रेष्ठता को योगावस्था को प्राप्त करना कदापि कहा नहीं जा सकता। यही कारण है कि योग की प्राप्ति हेतु महर्षि पतंजलि द्वारा अस्तेय को अपनाना तथा आचरण की पवित्रता को धारण करना **यम-नियम** रूप में आरम्भत: आवश्यक माना गया है। सार्वभौम व्रत रूपमें इनका पालन करना अनिवार्य माना गया है तथा सूत्ररूप में प्रकट किया गया है कि योग मार्ग में 'अस्तेय' को अपनाना तो रत्नादि को प्राप्त करने अर्थात् सब प्रकार की सम्पदा को प्राप्त करने एवं 'शुचिता' को धारण करना ही घृणारहित अवस्था में इन्द्रियजय अवस्था को प्राप्त करने में सहायक हो जाता है।' (योगदर्शनम् २.३७ व ४०)

चूंकि इस सृष्टि-जगत् में प्रकट हुआ उस परमात्मा का समस्त सृजनकार्य दोषरहित अवस्था में पूर्णता के गुण को धारण करने वाला जाना जाता है। अत: स्वयं के मनुष्यरूप में किया जाने वाला कार्य भी दोषरहित अवस्था एवं पूर्णता के गुण को धारण करने वाला हो जावे; उस परमात्मा द्वारा किये जा रहे इस सृष्टियज्ञ का 'एकरूप-अंग' बन जावे; उस परमात्मा का यह प्रकट् पुरुषरूप भी अपने सखारूप को प्राप्त होकर समानधर्मा हो जावे। और, जिस प्रकार शुद्ध जल में मिलाया गया शुद्ध जल एकरूपता को प्राप्त कर लेता है; उसी प्रकार दोषरहित अवस्था में पूर्णता को प्राप्त किया गया कर्म, इस सृष्टियज्ञ का अंग हो जावे, इस आधार पर ही स्वकर्तव्यकर्म की निपुणता को धारण करना योग प्रक्रिया को अपना लेना है। सकलसृष्टि के सृजनकर्ता उस परमेश्वर से अपनी सायुज्यता को प्राप्त कर स्वयं की योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। इसी आधारपर कर्म की निपुणता आधारित इस योगावस्था को **'कर्म योग'** रूप में भी जाना गया है।

४.४ योग की चतुर्थ परिभाषा हमें- **'दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (गीता ६.२३) अर्थात् 'दुःखसंयोग की वियोगरूपा अवस्था का नाम 'योग' है।' रूप में प्राप्त होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में आयी योग की यह परिभाषा परिणाम मूलक है। वेदवाणी तथा उपनिषद् वाणी में आये श्रुति कथन- **'पुरुष एवेदं सर्वं'**; (ऋग्वेद १०.९०.१) **'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'**; (यजुर्वेद ३९.१६) **'तत्वमसि'**; (छा.उप. ६.८-१६) **अहं ब्रह्मास्मीति**; (बृह.उप. १.४.१०) तथा गीतोक्त कथन - **'मत्तः परतरं नान्यत्किंचदस्ति धनंजय'**; (गीता ७.७) **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'**; (गीता १०.२०) तथा **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५.७) आधार पर जब हम सकल जगत के साथ-साथ स्वयं को भी उस परमात्मा का प्रकट् अंशरूप होना स्वीकार कर लेते हैं। श्रुतिकथन- **'स वा एष पुरुषविध एव।'** (तैतिरी.उप. २.५.२) अर्थात् ''वह पुरुषरूप भी इस पुरुषरूप जैसा ही है।'' को मन की भावभूमि पर धारण कर लेते हैं, तो सर्वावस्था में मुदिता को अपनाना या दुःखरहित मनोभाव को धारण करना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना है।

४.४(१) वेदवाणी तथा उपनिषद् वाणी मानवमात्र को उस परमात्मा का प्रकट्रूप होना वर्णन करती है। मानवमात्र को सोलह कला पुरुष होना वर्णन करती है तथा इस जानकारी के अभाव में ही इस पुरुषरूप जीवात्मा को पुनः लौटने वाला अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त करने वाला कथन करती है। (प्रश्नोपनिषद् छठा प्रश्न) तथा उस परमात्मस्वरूप अविनाशी आत्मा को अपने उभय पक्षीरूप में (क्षर पुरुष एवं अक्षर पुरुष रूपमें), इस आत्मवृक्ष (संसारवृक्ष) पर लगने वाले 'कर्मफल' को रसपूर्ण मानकर, स्वयं उसे खाने वाला अर्थात् सुख-दुःख रूपी कर्मफल को भोगने वाला एवं स्वयं के असंग स्वरूप में केवल 'द्रष्टा पुरुष' होना वर्णन करती है। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट करती है कि जब कभी कर्मफल रूप में सुख-दुःख का अनुभव करने वाला यह मानव देहधारी 'क्षर पुरुष' अपने देहस्थ 'अक्षर पुरुष' को, इसके असंग, द्रष्टास्वरूप को देख अथवा जान लेता है; तब ही यह स्वआत्मस्वरूप का बोध प्राप्त कर, सर्वथा शोकमुक्त हो जाता है :-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तयनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

॥ ऋग्वेद १.१६४.२०; अथर्ववेद ९.१४.२०; मुण्डकोपनिषद् ३.१.१ व २ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्. ४.६ व ७॥

- ''एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखाभाव को धारण करने वाले दो पक्षी (क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर निवास करते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के फलों (सुख-दुःख रूपी कर्मफलों) को स्वाद ले-लेकर भोग करता है; किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।

उस समान (एक ही) वृक्ष पर रहने वाला भोगरत पक्षी (जीवात्मा) गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है; जिसके परिणाम स्वरूप वह असमर्थता रूप में दीनता का अनुभव करता हुआ, मोहित होकर शोक करता रहता है। यह जब कभी प्रयत्न करता हुआ अपने से भिन्न परमेश्वर को तथा उसकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है; तब यह सर्वथा शोकरहित हो जाता है।''

इस प्रकार योग की यह परिभाषा इस जीवात्मा के भोक्ता स्वरूप एवं असंग अविनाशी अक्षर स्वरूप को जानकर, स्वयं की सुख-दुःखमय अवस्था में, लौकिकजीवन की क्रीड़ावत् अवस्था में स्वयं के द्रष्टा आत्मस्वरूप को प्राप्त करना ही योग को प्राप्त करना प्रकट् करती है। स्फटिक पत्थर की भाँति स्वयं की आकाशवत् (निर्विकार एवं धूल-आँधी एवं बादलयुक्त विकारग्रस्त) असंग अवस्था का बोध प्राप्त कर, स्वयं की अचल, स्थिरमन, निर्विकार अवस्था को प्राप्त कर लेना ही योगावस्था को प्राप्त होना कथन करती है।

४.४(२) उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा ब्रह्म का शरीर आकाशरूप होना वर्णन किया गया है - **आकाशशरीरं ब्रह्म।** (तैत्ति. उप. १.६.२) सब को ही इस आकाशशरीर में स्थित होना वर्णन किया गया है तथा अनुशासन किया गया है कि ब्रह्म की उपासना आकाशशरीर रूपमें करना चाहिए। यह समस्त चर-अचर जीव जगत उस परमात्मा में स्थित है और वह पूर्णपुरुष मेरे हृदय में स्थित है, यह जानकर उपासना करना चाहिए। स्वयं के आत्मा को आकाशरूप मानकर समस्त चर-अचर जीव जगत् को इसमें स्थित होना जानना चाहिए। ''मैं ही यह सब हूँ' - **अहमेवेदँ्सर्वंमिति।** (छा.उप. ७.२५.१) जानना चाहिए।'' उस परमेश्वर को इस मानवदेह में और इसके बाहर भी स्थित होना जानकर, उस सर्वरूप से एकात्मता प्राप्त करना चाहिए। हृदय में स्थित उस परमात्मा को सदैव ही मूँज (तृण) से बाहर की गयी सींक की भाँति चमकते हुए बिन्दु रूप में अपने शरीर से बाहर धैर्यपूर्वक देखना चाहिए। (कठ.उप. २.३.१७) ध्यान की गहन देहातीत अवस्था में भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र स्थानमें) जो प्रकाश बिन्दु चमकते

हुए सितारे जैसा दिखाई देता है तथा जो अत्यन्त ही निकट एवं दूर से भी अतिदूर होने की प्रतीती प्रदान करता है, उसे ही 'जन्मचक्र का नियामक' होना जानकर उसकी उपासना करना चाहिए। श्रुति इस प्रकाशरूप निष्कल **'पुरुष तत्त्व'** को प्राप्त करने का अनुशासन करती है- **निष्कलं निष्क्रियँ् शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परँ् सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।** (श्वेता.उप. ६.१९) अर्थात् "कलाओं से रहित, क्रियारहित, सर्वथाशान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृत के परमसेतु, जले हुए ईंधन अर्थात् दहकती हुई चिंगारी सदृश, ज्योतिर्मय अग्निपुरुष परमात्मा की में (लक्ष्य से लगे हुए तीर की भाँति) उपासना करता हूँ।" इस प्रकाशबिन्दु को देखकर ही योगी पुरुषों द्वारा उपासनारत अवस्था में इस पुरुषदेह को भी आकाशरूप होना जाना जाता है। बाह्यआकाश की भाँति इस पुरुषरूप मानवदेह में भी चिदाकाश स्थित होना अनुभव किया जाता है तथा जो कुछ बाह्यआकाश में स्थित है, वही सब कुछ इस मानवदेह में भी (स्वप्नदृश्य की भाँति) स्थित होनामाना जाता है। इस अचल तथ्य को ही प्राचीन आर्षग्रन्थों में **'यद् ब्रह्माण्डे तद् पिण्डे'** या **'यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण का कथन है कि इस बृहद्आकाश में वे स्वयं शब्दरूप में स्थित हैं- **शब्दः खे।** (गीता ७.८) यह शब्द आकाश में उत्पन्न होता है; आकाश में विस्तार को प्राप्त करता है और आकाश में ही लय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अत: बाह्यआकाश की भाँति चिदाकाश का बोध प्राप्त कर, इस चिदाकाश में 'शब्द स्वरूप' परमात्मा का बोध कर लेना ही 'अक्षर ब्रह्म' या 'अक्षर पुरुष' को प्राप्त कर लेना होता है। देहस्थ अविनाशी आत्मा के 'शब्दब्रह्म स्वरूप' का बोध प्राप्त कर लेना होता है। सकलविश्व के नियामक 'ईश् तत्त्व' का बोध प्राप्त कर लेना होता है। समस्त प्राणी समुदाय में स्थित अन्तरात्मा- **'ह्योष सर्वभूतान्तरात्मा'** (मुण्ड. उप. २.१.४) को प्राप्त कर लेना होता है। इस नाशवान शरीर में स्थित रहकर, इस अशरीर, अनश्वर, 'शब्द स्वरूप' आत्मा को जान लेना ही धैर्य को धारण करने में सहायक होकर, शोकरहित अवस्था को प्राप्त कर लेना है, समस्त प्रकार के दुःख से निवृत्ति प्राप्त कर लेना है- **अशरीरँ् शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।** (कठ.उप.१.२.२२) श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ में शिवस्वरूप परमात्मा का निवास स्थान चिदाकाश में होना वर्णन किया गया है तथा चिदाकाश में स्थित इस 'शब्द स्वरूप' आत्मा को ही नित्य की उपासना का आराध्यदेव होना वर्णन किया गया है- **चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं।** (श्रीरामचरितमानस ७.१०७.२) उपनिषद्

वाणी में श्रुति का कथन है कि 'शब्द स्वरूप' की सहायता से इस मानवदेह में स्थित चिदाकाश को जान लेना ही समस्त मानव समुदाय के लिये दु:खों के नाश का कारण होता है। :-

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा: ।
तदा देवमविज्ञाय दु:खस्यान्तो भविष्यति ॥

॥ श्वेता.उप. ६.२० ॥

(अर्थात्) 'जिस समय मनुष्यगण बाह्य आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे, अर्थात् इस मानवदेह में स्थित चिदाकाश में 'शब्द स्वरूप' को जान सकेंगे, तब उन परमदेव को जाने बिना ही दु:खों का अन्त हो जावेगा।'

अत: जब हम चित्त की एकाग्रता को अपनाकर, बाह्यआकाश की भाँति चिदाकाश में वाणी के 'शब्द स्वरूप' को गूँजता हुआ सुन लेते हैं, तो यह बाह्य आकाश को चमड़े की भाँति लपेट लेना होता है। देहस्थ 'अक्षर पुरुष' द्वारा धारण किये गये आकाशशरीर का बोध प्राप्त कर लेना होता है। स्वयं के पुरुषरूप का बोध प्राप्त कर लेना होता है। यह श्रुति कथन **'स वा अक्षर पुरुषविध एव।'** अर्थात् ''वह पुरुषरूप भी इस पुरुषरूप जैसा ही है।'' को स्वानुभूति आधार पर जान लेना होता है। इस प्रकार चिदाकाश में 'शब्दस्वरूप' को सुन लेना ही **'लुकाछिपी'** के खेल में खोज लिये गये खिलाड़ी की भाँति' देहस्थ आत्मपुरुष को प्राप्त कर लेना है; जिसे 'अक्षर पुरुष' रूपमें 'द्रष्टा पुरुष' कहा गया है, उसको ही प्राप्त कर लेना है। क्षरपुरुष रूप मानवदेह में स्थित इस 'शब्दब्रह्म स्वरूप 'अक्षर पुरुष' को ही श्रुति द्वारा- **'नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'** अर्थात् 'भोग न करते हुए केवल देखनेवाला पक्षी' कहा गया है। अत: स्वयंके लौकिकजीवन की दु:ख-सुखमय अवस्था में इस 'द्रष्टा पुरुष' को जानकर स्वयं का दु:ख-सुख रहित हो जाना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। किसी नाट्यकर्मी की भाँति कर्मरत रहकर स्वयं के परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रुति कथन करती है कि ''जहाँ द्वैत है, वहीं अन्य के द्वारा अन्य को जाना जाता है; अन्य के द्वारा अन्य को देखा जाता है; अन्य के द्वारा अन्य को सुना जाता है।'' अत: जब हम स्वयं के इस 'अक्षर स्वरूप' को जान लेते हैं; देहस्थ 'शब्द ब्रह्म स्वरूप' अविनाशी आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं तो फिर अब हम किसके द्वारा किसे सुनें, किसके द्वारा किसे देखें अथवा किसके द्वारा किसे जानें- **तत् केन कँ शृणुयात्; ... .. केन कँ विजानीयात्।** (बृह.उप. ४.५.१५) अत: इस पुरुषदेह में निवास करते हुए यही परब्रह्म

परमात्मा को प्राप्त कर लेना है। जिसे श्रुति द्वारा समष्टिगत रूप में **पुरुष एवेदं सर्वं** तथा व्यष्टिपरक रूपमें **'तत्त्वमसि'** होना वर्णन किया गया है। यही मनुष्यरूप में अपनी योगावस्था को प्राप्त कर लेना होता है।

४.४(३) इस मनुष्यलोक में मानवजीवन की 'दुःखरहित अवस्था' को ही सुखरूप होना जाना गया है। मनुष्यमात्र द्वारा अनुभव किया जाने वाला यह 'सुख-दुःख' उस व्यक्ति द्वारा अपनायी गयी सद् अथवा असद् वृत्ति के आधार पर उभयरूप को धारण करने वाला होता है। असद्वृत्ति को अपनाने वाला पुरुष दुष्कर्म करता हुआ सुखानुभूति प्राप्त करता है। वह दूसरों को कष्ट प्रदानकर स्वयं प्रसन्न होता है; जिसे 'खल स्वभाव' रूप में जाना गया है। वहीं सद्वृत्ति को अपनाने वाला व्यक्ति सद्कर्म या परोपकार करता हुआ स्वयं को सुखी अनुभव करता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ देहस्थ जीवात्मा (आत्मा) द्वारा अपनायी जाती हैं। अत: जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से अपनी योगावस्था को धारण करता हुआ प्राप्त की गयी योगावस्था के अनुसार ही दोनों पक्ष में समान रूपसे प्रकाशित होता है। शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष अवस्था को धारण करता हुआ पूर्णता को प्राप्त करता या आत्मक्षय को अपनाता है उसी प्रकार यह देहधारी पुरुष भी स्वप्रेरणा के अनुसार ही सद् एवं असद्वृत्ति को अपनाकर ऊर्ध्वमुख अथवा अधोगामी यात्रापथ को अपनाने वाला जाना जाता है। ये दोनों ही वृत्तियाँ गीतावाणी में अपने ही आत्मा की मित्र एवं शत्रुरूप अवस्था होना कही गयी हैं। इस प्रकार योग रूप में प्राप्त की जाने वाली यह जो सुख-दुःख रूप में प्राप्त की जाने वाली इस मानवजीवन की उभयरूप शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष अवस्था है तथा जिसे इस जीवात्मा (आत्मा) की उत्तरायण एवं दक्षिणायन अवस्था भी कहा गया है। इस उभयरूप आधार पर ही दुःख-सुख आधारित यह योगावस्था भी उभयरूप को धारण करने वाली जानी गयी है। अत: जब कोई व्यक्ति इस आत्मरहस्य को जानता हुआ भी अपनी देहरूप से आबद्ध अवस्था का परित्याग नहीं करता है और परस्पर भेदावस्था को अपनाकर महाभारत कथा के प्रसिद्ध पात्र दुर्योधन की भाँति यह कथन करता है कि-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेष हृदयस्थयोऽहं यथा नियोक्तसि तथा करोमि ॥

-"मैं धर्म को जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है; मैं अधर्म को जानता हूँ पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। हृदय में स्थित हे ऋषिकेष! आप जो कर्म मेरे लिये नियत करते हैं, वही मैं करता हूँ।"

और, इस अवस्था को अपने नित्यआचरण (जीवन) में अपना लेता है, तो इस प्रकार धारण की गयी यह योगावस्था 'कृष्ण पक्ष' रूप होकर क्षय अवस्था प्रदान करती है। यह सबके लिये कष्टदायी होकर अमावस तिथि के चन्द्रमा की भाँति आत्मविनाश का कारण बनती है। अतः आवश्यक है कि तित्प आचरण में धर्म का पालन किया जावे।

४.४(४) यहाँ पूर्वपीठिका रूप में गीतावाणी वर्णन करती है कि-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वैत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत: ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत: ।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ६.२१से २३ ॥

- "जो सुख निरतिशय, सात्त्विकी बुद्धिसे ग्राह्य और अतीन्द्रिय है, उसे जिस अवस्था में योगी अनुभव करता है तथा जिस अवस्था में स्थित होने पर यह आत्मस्वरूप से चलायमान नहीं होता। तथा जिस अवस्था को प्राप्त कर योगी उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं समझता और जिसमें स्थित होने पर वह भारी से भारी दु:ख में भी विचलित नहीं होता। दु:खसंयोग की इस वियोगरूपा अवस्था का नाम 'योग' है, उसको ही जानना चाहिए (और) उस योग का निश्चयपूर्वक अव्यग्रचित्त से अभ्यास करना चाहिए।"

चूंकि इस जगत में सद् और असद् दोनों ही प्रवृत्तियों का अस्तित्व उस सर्वरूप परमात्मा के क्रीड़ाकर्म पर आधारित होना जाना जाता है। दोनों ही वृत्तियों का उद्भव उस एक परमेश्वर से होता है- **यस्य भासा विभातीदं सर्वं सदसदात्मकम्। सर्वाधारं सदानन्दं स्वात्मानं तं हरिं भजे ॥** अत: सुख-दु:ख की यह जो उभयरूप अवस्था है तथा इससे परे जो असीम आनन्द की अवस्था है तथा जिसे 'योग' कहा गया है, उसको ही जानना चाहिए तथा उस योग को न उकताये हुए चित्त द्वारा दृढ़तापूर्वक अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। उस हृदयस्थ द्रष्टापुरुष को ही भजना अर्थात् उसे ही प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार कि महाभारत कथा में अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण को अपने महल में सुप्तावस्था में प्राप्त कर न उकताये हुए मन द्वारा धैर्य को अपनाकर श्रीकृष्ण के जागने की प्रतीक्षा करते हुए श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त किया गया है,

उसी प्रकार धैर्य, निष्ठा और श्रद्धा को अपनाकर योग अथवा योगावस्था रूप में उस परमेश्वर को ही प्राप्त करना चाहिए।

४.४८५ इस प्रकार योग की यह परिभाषा मानवजीवन की दुःख-सुखमय अवस्था में स्थिर रहकर दुःख-सुख से परे चिदाकाश का बोध प्राप्त करते हुए सर्वरूप 'अक्षर पुरुष' परमात्मा को अपने देहस्थ रूप में जान लेना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करना कथन करती है तथा इस 'योग' को जानने की अपेक्षा करती है। यह इस अक्षरस्वरूप आत्मा को अजन्मा, सर्वव्यापी और अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य- **अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च**' (गीता २.२४) होना जानकर 'किसी नाट्यमंच पर अभिनयरत कलाकार की भाँति' सुख-दुःख की अनुभूति से परे रहकर अपने समस्त सांसारिक दायित्वों (कार्यों) को पूर्ण करने की अपेक्षा करती है। दुःखसंयोग की यह वियोग रुप अवस्था जिस प्रकार कि श्रीरामभक्त हनुमान द्वारा *'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।।'* (श्रीरामचरितमानस ५.२१.६) कहते हुए अपने कार्य की पूर्णता हेतु मेघनाद के पाशबन्धन को 'ब्रह्मपाश' रूप में स्वीकार किया गया है; या कि जिस प्रकार संत सद्गुरु अर्जुनदेव द्वारा '**तेरा भाणा मीठा लागे**' कहते हुए इस योगावस्था को धारण किया गया है; या कि जिस प्रकार संत सद्गुरु तेगबहादुर द्वारा धर्म की रक्षा हेतु अपने 'शीष' का दान दिया गया है; या कि जिस प्रकार संत कबीर द्वारा पागल हाथी के पैरों तले कुचलने अथवा अपरिमित काष्ठ द्वारा उन्हें जलाये जाने के प्रयास में धैर्य को धारण किया गया है; या कि जिस प्रकार संत मीराबाई द्वारा विषपान करते हुए या कि पिटारी में भेजे गये सर्प अथवा अपने निवास पर मुक्तावस्था में छोड़े गये सिंह (शेर) को देखकर योगावस्था को धारण किया गया है; या कि जिस प्रकार संत सुकरात द्वारा कारागार से बाहर भाग निकलने के प्रयास को नकारकर जहर का प्याला पीते हुए, या संत समद द्वारा गरम चीमटे से अपना माँस नोचते हुए या कि जिस प्रकार प्रभु यीशु द्वारा सूली पर लटकी हुई अवस्था में दुःख के संयोग को अनुभव करते हुए भी दुःख की वियोगरूप अवस्था को धारणकर क्षमा भाव को अपनाया गया है;

उसको ही जानना और उसको ही प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार किसी नाट्यमंच पर कोई कलाकार मर कर भी मरता नहीं है, वह दुःख-सुख को प्राप्त होकर भी स्वयं के असंग आत्मस्वरूप में रमण करता है, वह स्वप्रज्ञा की समाधानयुक्त, स्थिर एवं अचल अवस्था को धारण किये रहता है। वह नियत कर्म को पूर्णता प्रदान करता हुआ स्वयं आह्लादित होता है और सबको ही मुदिता का भाव प्रदान करता है। उसी प्रकार स्वयं के असंग अक्षर स्वरूप में स्थित रहकर सांसारिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार स्वयं के प्रज्ञा आत्मस्वरूप को प्राप्त

कर लेना ही बुद्धि की अचल अवस्था को प्राप्त कर योग में स्थित हो जाना या योग की स्थिर अवस्था को प्राप्त कर लेना है। (विस्तृत विवेचन हेतु कृति **'हमारे खेल एवं जीवनदर्शन'** पठनीय)

योगावस्था के लिये

५. योग के इस परिभाषित स्वरूप के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता में उन विशेष परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन किया गया है; जिन्हें साधन रूप में अपनाया जाकर योग अथवा योगावस्था को प्राप्त (धारण) करना संभव होता है। इस साधनक्रम में मानवमात्र के लिये उपयोगी निम्न गीतोक्त कथन लिये जा सकते हैं। :-

(१) '(यदा) समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।' (गीता २.५३) अर्थात् ''जब बुद्धि की निर्द्वन्द अचल अवस्था होती है, तब 'योग' को प्राप्त कर लेता है।''

(२) 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥' (गीता ६.३) अर्थात् ''आत्मविद् पुरुष कर्म को अपनाना ही योग प्राप्ति का साधन होना तथा मनःसंयम को अपना लेना ही 'योग' की स्थिर अवस्था को धारण करने का कारण होना कथन करते हैं।''

(३) 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसन्नयासी योगारूढस्तदोच्यते।।' (गीता ६.४) अर्थात् ''जब कोई पुरुष न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्म की फलासक्ति में ही संयुक्त (लिप्त) होता है; उस काल में वह सब प्रकार के संकल्पों का परित्यागी पुरुष 'योगारूढ़' कहा जाता है।''

(४) युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (गीता ६.१७) अर्थात् ''दुःखों का नाश करनेवाला यह योग तो इस जगत् में यथायोग्य आहार-विहार को अपनाने वाले, स्व-कर्तव्य कर्म के प्रति सम्यक् चेष्टा करने वाले, (और) भावीजीवन के प्रति यथायोग्य स्वप्न को देखने अर्थात् कर्मलक्ष्य का निर्धारण करने एवं कर्म से प्राप्त बोध (अनुभव) को अपने नित्यजीवन में अपनाने वाले साधक पुरुष का ही सिद्ध होता है।''

(५) 'यदा विनियतं चित्त्मात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।' (गीता ६.१८) अर्थात् ''जिस काल में भलीभाँति नियत किया हुआ चित्त परमात्मा

में ही सम्यक्रूप से स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों के प्रति स्पृहारहित हुआ वह पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है।''

(६) 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।' (गीता ६.३१) अर्थात् ''जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझ परमेश्वर को ही भजता है, वह पुरुष (स्त्री-पुरुष) सब प्रकार से बरतता हुआ भी योगावस्था में ही स्थित बना रहता है।''

(७) 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।' (गीता ६.३२) अर्थात् ''हे अर्जुन! जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में आत्मभाव से (= स्यवं की भाँति) सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी, सब प्राणियों में स्वयं के सुख अथवा दुःख की भाँति सम देखता है, वह पुरुष 'परम श्रेष्ठ योगी' माना गया है।''

(८) 'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।' (गीता ६.३६) अर्थात् ''जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा 'योग' प्राप्त करना दुष्प्राप्य है, यह मेरा मत है। किन्तु वश में किये हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा शास्त्रविहित उपाय से योगावस्था को प्राप्त कर लेना सहज है।'' आदि।

इस प्रकार 'योग' अथवा 'योगावस्था' को प्राप्त करने का मार्ग अनेकविध होना प्रकट है, जिसके आधार पर योग की परिभाषा, योग प्राप्ति का साधन एवं योगावस्था को प्रकट् करने वाला विवरण भी उपरोक्तानुसार विविधता को धारण करने वाला हो गया है। किन्तु इस विविधता के मध्य विचारणीय है कि जिस प्रकार किसी पर्वत शिखर पर बरसने वाला समस्त जल अनेक जलधाराओं को अपनाकर एक ही समुद्र की ओर गमन करता है तथा समस्त जलधाराओं में विद्यमान मछलियाँ ऊर्ध्वमुख यात्रापथ को अपना लेने पर एक ही शीर्षस्थान को प्राप्त करने वाली हो जाती हैं; उसी प्रकार ये समस्त परिभाषाएँ, योग की ये सब अवधारणाएँ और ये सभी साधन-प्रक्रियाएँ, एक ही गन्तव्य की ओर ले जाने वाली होती हैं। ऊर्ध्वमुख मनःचेतना को अपना लेने पर ये सब की सब अन्तःस्थ पुरुष को प्राप्त करने का साधन हो जाती हैं। ये सब अपने जीवात्मा की लय अवस्था को प्राप्त कर उस विराट् रूप आत्मतत्त्व में स्थित करने वाली होती हैं। ये सब जागतिक जीवन में अक्षयसुख, मुदितामय जीवन, रसपूर्ण व्यवहार एवं चरित्र की धवलता को प्राप्त करने का साधन बनती हैं, जिसे गीतावाणी में श्री, विजय, विभूति, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करना कहा जाकर मनुष्य रूप में स्वयं

की आप्तकाम अथवा आत्मकाम अवस्था को प्राप्त कर लेना कहा गया है। अत: अब हम आत्मकल्याण हेतु इस साधन-स्वरूप पर भी किंचित् विस्तार से विचार करेंगे।

५.१ योगावस्था की प्राप्ति हेतु लिया गया प्रथम गीतोक्त कथन कि- '**(यदा) समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।**' (गीता २.५३) बुद्धि की शान्त एवं निश्चल अवस्था से सम्बन्ध रखने वाला है। बुद्धि की शान्त एवं निश्चल अवस्था द्वारा योगावस्था को प्राप्त करने का यह गीतोक्त मार्ग '**स्थितप्रज्ञ दर्शन**' रूप में जाना जाता है। गीतावाणी प्रकट् करती है कि इस जगत् में अशांत व्यक्ति सुखों की प्राप्ति से सदैव वंचित बना रहता है- **अशान्तस्य कुत: सुखम्** (गीता २.६६) तथा संशयात्मा व्यक्ति विनाश को प्राप्त हो जाता है- **संशयात्मा विनश्यति।** (गीता ४.१०) अत: योग रूप में मनुष्यजीवन की सुखमय अवस्था को प्राप्त करने हेतु बुद्धि की समाधान युक्त, संशयरहित, निश्चल (अचल) अवस्था को धारण करना ही योग की प्राप्ति है।

५.१(१) मानवमात्र की क्रियाशीलता में बुद्धितत्त्व का स्थान प्रमुख माना गया है। बुद्धितत्त्व के अभाव में यह मनुष्य मूढ़ता को प्राप्त हो जाता है। यह अन्नमय कोषमें स्थित रहकर पशुवत् जीवन व्यतीत करता है। मनीषी पुरुषों द्वारा बुद्धि का गुण निरपेक्ष होना तथा निर्णायक गुण को धारण करना कथन किया गया है। बुद्धि की यह जो निरपेक्ष, निर्विकार, विशुद्ध, निर्णायक अवस्था है, इसे ही अपने उच्चतर स्वरूप में 'प्रज्ञा' कहा गया है। अत: बुद्धि की अचल एवं समाधानयुक्त अवस्था को प्राप्त करना ही प्रज्ञा में स्थित हो जाना है। यह बुद्धि की समाधानयुक्त अचल अवस्था को प्राप्त कर लेना होता है।

५.१(२) कौषीतिकीय उपनिषद् में ऋषिकथन है कि- '**यो वै प्राण: सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राण:।**' (कौषी. उप. ३.३) अर्थात् ''जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है।'' अत: कर्मरत अवस्था में प्राणतत्त्व की सम अवस्था को धारण करना ही बुद्धितत्त्व की सम एवं अचल अवस्था को प्राप्त करने में सहायक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में आरम्भत: वर्णन किया गया है कि बुद्धि की अस्थिर अवस्था को प्राप्त करके ही रथारूढ़ अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था को प्राप्त हो गया है। उसके द्वारा 'अङ्गों का शिथिल होना, मुख का सूख जाना, शरीर में कम्प होना, रोमांच (भय) होना, हाथ से गाण्डीव धनुष की पकड़ ढीली हो जाना (अर्थात् पसीना आना), त्वचा में जलन को अनुभव करना एवं मन का भ्रमित हो जाना, आदि लक्षणों को अनुभव किया गया है। (गीता १.२९ व ३०) ये सब लक्षण प्राणतत्त्व से सम्बन्धित होकर बुद्धि की असमाधानयुक्त, अस्थिर अवस्था को सूचित करते हैं।

अत: स्वयं की कर्मरत अवस्था में इन लक्षणों का अभाव बुद्धि की संशयरहित अचल अवस्था को एवं सम्मुख परिस्थितियों को देखकर इन लक्षणों को अनुभव करना ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपनी बुद्धि की संशयात्मक एवं अस्थिर अवस्था को धारण करना सूचित करता है। ऐसी अवस्था में योगावस्था की प्राप्ति हेतु स्वप्रज्ञा (बुद्धि) की शान्त एवं अचल अवस्था को प्राप्त करने हेतु गीतावाणी में प्रकट् किया गया है कि-

- 'जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण मनोकामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट बना रहता है';
- 'दु:खों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता तथा सुख की प्राप्ति में जो सर्वथा नि:स्पृह बना रहता है';
- 'जिस व्यक्ति के राग, द्वेष, भय, क्रोध, आदि मनोविकार नष्ट हो गये हैं';
- 'जो पुरुष सभी विषयों में आसक्ति से रहित है, शुभ या अशुभ प्रसंग के आने पर जो न तो प्रसन्न होता है और न क्षोभ ही व्यक्त करता है';
- 'जो पुरुष (इस संसार समुद्र में निवास करते हुए) विषम परिस्थितियों के आने पर कछुए की भाँति इच्छामात्र से अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता हुआ विषयोपसेवन से उन्हें हटा लेता है,' तथा
- 'जिस प्रकार सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में चारों ही ओर से प्रविष्ट जल उसमें समा जाते हैं, उसी प्रकार समस्त कामनाएँ जिस पुरुष में समा जाती हैं, अर्थात् जो पुरुष मनोकामनाओं के द्वारा उद्वेग को प्राप्त नहीं करता है,

वह ऐसा शान्तचित्त, स्थिरमन व्यक्ति ही शान्ति को प्राप्त करता है; काम या भोगों को चाहने वाला नहीं।'' (गीता २.५५ से ५८ एवं ७०)

अत: जिस किसी पुरुष द्वारा इन लक्षणों या इन गुणों को धारणकर लिया गया है, वह ऐसा पुरुष (अपने स्त्री-पुरुष रूपमें) बुद्धि की समाधिस्थ अचल अवस्था को धारण करने वाला जाना जाता है। वह योगावस्था को प्राप्त हुआ माना जाता है। जिसे प्रकट् करते हुए गीतावाणी में- ''जब बुद्धि की निर्द्वन्द्व अचल अवस्था होती है, तब योग को प्राप्त कर लेता है।'' कहा गया है।

५.२ योगावस्था की प्राप्ति हेतु लिया गया यह द्वितीय गीतोक्त कथन कि- **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते।।** (गीता ६.३) कर्मनिष्ठा

को धारण करने एवं योग की स्थिरता हेतु मन:संयम को अपनाने की अपेक्षा करता है।

५.२(१) सर्वरूप मानवसमुदाय के लिये योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करने का प्रमुख साधन कर्म है। इस बिन्दु पर पूर्वतर योग की परिभाषा क्रम में विचार किया गया है। तथापि यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्मरत अवस्था में जब कोई व्यक्ति अपनी तल्लीन् अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह बाह्य परिवेश के साथ-साथ आत्मविस्मृति (देहबोध की विस्मृति) को प्राप्त करने वाला भी हो जाता है। वह भूख-प्यास आदि शारीरिक चेतना के लक्षणों से स्वयं को मुक्त हुआ अनुभव करता है। कर्म की तल्लीन् अवस्था में वह स्वाभाविक रूप से दशेन्द्रियों एवं मन की लय अवस्था एवं बुद्धि के निरपेक्ष स्वरूप को धारण करता है। ये सब अवस्थाएँ और ये सभी लक्षण आत्मस्थ चेतना को प्रकट् करते हैं। देह, गेह, आत्मविस्मृति आधारित समाधिस्थ चेतना को प्रकट करते हैं। अत: कर्म को योग प्राप्ति का सबसे सरल एवं सर्वसुलभ साधन होना, जाना गया है। चित्त की निर्मल अवस्था को प्राप्त करने का साधन माना गया है। यही कारण है कि युद्धरत अवस्था में मृत्यु को प्राप्त योद्धा को मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। उसे आत्मपुरुष को प्राप्त करने वाला कहा गया है।

५.२(२) योगावस्था को प्राप्त कर लेने पर, योग की स्थिर अवस्था को धारण करने हेतु मन:संयम को अपनाना आवश्यक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय सोलह में योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन है कि- **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशतमात्मन: । काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्**।। (गीता १६.२१) अर्थात् ''काम, क्रोध तथा लोभ - ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् अधोगति की ओर ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए।'' इसके अतिरिक्त गीताराणी में काम एवं क्रोध की बहुत खातेवाला 'महाशनो' (गीता ३.३७) कहा गया है और इसके साथ ही काम को दुर्जय शत्रु कहा जाकर, इसे मारने का अनुशासन किया गया है- **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्**। (गीता ३.४३)। तथा जिसने काम पर विजय प्राप्त कर ली है उसे ही **महावीर** कहा गया है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि को त्यागने या इन 'षड् शत्रुओं' पर विजय प्राप्त करने का मार्ग, मन के संयम से जुड़ा हुआ है। उपनिषद् वाणी मन को अनन्तरूप होना कथन करती है- **अनन्त वै मन:** । मन को मानवमात्र की पृथक्ता का आधार होना प्रकट् करती है। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली में श्रुति कथन है कि- ''मन ब्रह्म है, इस प्रकार जाना गया। निश्चय ही ये सब प्राणी मन से उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर मन से ही जीवित रहते हैं तथा इस

लोक से प्रयाण करते हुए अन्तमें मन में ही समा जाते हैं।'' (तैत्ति.उप. ३.४.१) तथा मैत्रायण्युपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि विषयासक्त अवस्था को प्राप्त हुआ मन ही कर्म के बन्धन को जन्मचक्र रूप में अपनाता है तथा विशुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ निर्विषय मन ही मोक्ष (योग) प्राप्ति का कारण होता है:-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति ।।

।। मैत्रायण्युपनिषद् ४.११ ।।

-'मनुष्य मात्र के लिये जन्म और मृत्युरूपी संसारबन्धन तथा मोक्ष का कारण यह मन ही है। विषयों के प्रति भोगासक्त मन पुनर्जन्मरूपी बन्धन का कारण है तथा निर्विषय अवस्था में मन के द्वारा अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की स्मृति को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष का प्रदाता है।'

५.२(३) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आदि सब मनोभाव मन से उत्पन्न होते हैं तथा मन के द्वारा ही दशेन्द्रियों की सहायता से कार्यरूप में परिणित होते हैं। अत: मन एवं दशेन्द्रियों की इस विषय लोलुपता के प्रति दम-शम को अपनाना आवश्यक होता है। हम अपने लौकिक जीवन में मन एवं इन्द्रियों की भोगलालसा के प्रति दमन को अपनाने वाले हो जावें इस अपेक्षा में ही विवाहित युगल को दम्पत्ति कहा जाना प्रकट् होता है। उपनिषद् वाणी में श्रुति का कथन है कि यह पति-पत्नी का प्रकट् रूप उस परमात्मा का ही प्रकट् रूप है। (बृह. उप. १.४.३) अत: सांसारिक जीवन में काम, क्रोध, लोभ आदि मनोभाव के प्रति शमन को अपना लेना ही योग की स्थिर अवस्था को प्राप्त करने में सहायक हो जाता हैं। अत: ''आत्मविद् पुरुष इस मानवदेह में निवास करते हुए कर्म को अपनाना ही योग प्राप्ति का कारण (साधन) होना तथा मन:संयम को अपना लेना ही योग की स्थिर अवस्था को धारण करने का कारण होना कथन करते हैं।''

५.३ योग की प्राप्ति हेतु लिया गया तृतीय गीतोक्त कथन कि- **'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।'** (गीता ६.४) पुरुषतत्त्व द्वारा धारण की गयी असंग अवस्था एवं प्रकृति तत्त्व द्वारा धारण की गयी क्रियाशीलता से सम्बन्ध रखने वाला है। यहाँ इस कथन में योग की प्राप्ति हेतु कुल तीन बिन्दुओं का होना आवश्यक माना गया है। प्रथम- दशेन्द्रियों से नहीं जुड़ना; द्वितीय- कर्म से नहीं जुड़ना अर्थात् कर्मफल के प्रति आसक्ति को नहीं अपनाना; और, तृतीय- अपने समस्त संकल्प को अन्त:स्थ पुरुष से जोड़ देना अर्थात् स्वयं के कर्ताभाव का परित्याग करते हुए संकल्परहित हो जाना।

५.३(१) मानवशरीर की संरचना और इसकी क्रियाशीलता का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् में श्रुति द्वारा प्रकट किया गया है कि-

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।

॥ कठोपनिषद् १.३.३ व ४ ॥

- "जीवात्मा को रथ में बैठकर यात्रा करने वाला रथी, शरीर को रथ तथा बुद्धि को सारथि (रथ को हाँकनें वाला) होना जानो और मन को ही (अश्वों को नियन्त्रण में करनेवाली) लगाम होना समझो। मनीषी पुरुष इन्द्रियों को इस रथ में जुते हुए घोड़े तथा विषयों को उन घोड़ों के विचरण करने का मार्ग होना बतलाते हैं तथा शरीर, इन्द्रियाँ और मन इन सब के साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है; यों कहते हैं।"

५.३(२) इस प्रकारं मानवदेह की संरचना में यह जीवात्मा रथीरूप को प्राप्त होकर अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करने वाला होता है। यह मात्र संकल्प को अपनाकर अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है। यह मन:संकल्प के अनुसार ही ऊठता-बैठता और अन्य सब कर्मों को अपनाता है। इस प्रकार मानव शरीर की संरचना में दशेन्द्रियाँ मन के अधीन, मन बुद्धि के अधीन, बुद्धि अहंकार के अधीन कार्य करती है। यह अहंकार तत्त्व अपरा प्रकृति का अंग होकर अहम्‌तत्त्व रूप में इस जीवात्मा के पुरुषरूप को ही प्रकट् करता है- **बुद्धेः परतस्तु सः**। (गीता ३.४२) यह शरीरस्थ अविनाशी आत्मा द्वारा धारण की गयी गुणात्मक सत्ता (अर्थात् प्रकृति या स्वभाव) को प्रकट् करता है। अत: जब कोई पुरुष अहंकाररूप में मन:संकल्प को अपनाकर उसकी पूर्ति हेतु शरीर, इन्द्रियाँ और मन से जुड़ जाता है, तो यह इस जीवात्मा द्वारा भोक्तास्वरूप को प्राप्त कर लेना होता है- **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**। स्वयं की देहरूप से आबद्ध अवस्था में दशेन्द्रियों की विषयासक्त अवस्था एवं कर्मफल के प्रति आसक्ति को अपनाकर, स्वयं को भोक्ता मान लेना ही इस जीवात्मा के लिये कर्मबन्धन का कारण होता है- **फले सक्तो हि निबध्यते**। जिसे श्रुति द्वारा जन्म-चक्र को अपनाकर अपने पक्षीरूप में इस आत्मवृक्ष के फल स्वाद लेकर खाना वर्णन किया गया है।

अत: उपनिषद्‌वाणी में आत्मद्रष्टा ऋषियों द्वारा यात्रा की आरम्भिक अवस्था में रथ से

जुते हुए अश्वों की भाँति दशेन्द्रियों की अपने विषयों के प्रति स्थिर एवं अनासक्त अवस्था को

धारण करना ही योग रूप में जाना गया है- **तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणम् ।** (कठ.उप. 2. 3.11)

५.३(३) इस रथी रूपी अवधारणा में मानवमात्र की भोगासक्त अवस्था में कर्मचेष्टा के कुल तीन आधार बनते हैं। प्रथम- अश्वरूप दशेन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति आकर्षित होना एवं विषयसेवन को अपनाना; द्वितीय- विषयसेवन हेतु इन्द्रियों द्वारा मन को अपने साथ में ले लेना; तथा तृतीय- स्वयं को भोक्ता मानकर संकल्प-विकल्प आदि को अपनाना। मानवमात्र द्वारा देहरूप से आबद्ध अवस्था में कर्मचेष्टा की ये तीनों ही अवस्थाएँ योगावस्था को प्राप्त करने में बाधक मानी गयी हैं। गीतावाणी प्रकट् करती है कि यह देहरूप से आबद्ध जीवात्मा जब कभी अपनी धवलरूप समुज्ज्वल अवस्था को धारण/ प्राप्त करने का प्रयास करता है, तब ही ये इन्द्रियाँ मन को विषयों की ओर बलात् खींचकर ले जाने वाली हो जाती हैं- **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन: ।** (गीता २.६०) इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष छिपे होते हैं- **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।** (गीता ३.३४) अत: जब यह मन इन्द्रियों से जुड़ता है तो यह राग-द्वेष आदि मनोभाव को अपनाकर विकारग्रस्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यह विकारग्रस्त हुआ मन ही इस जीवात्मा के लिये कर्मबन्धन का कारण उपस्थित करता है।

५.३(४) चूंकि यह मन न तो पुरुषरूप है और न यह स्त्रीरूप को धारण करता है। यह तो नपुंसकरूप को धारण करने वाला है। अत: रथीरूप जीवात्मा अपने पुरुष और स्त्रीरूप में बुद्धितत्त्व के सारथिरूप की उपेक्षा करता हुआ ही शरीर, इन्द्रियाँ और मन से जुड़कर अपने भोक्तास्वरूप को प्राप्त करता है। जिसके परिणामस्वरूप यह जन्म-चक्रको अपनाकर, इस आत्मवृक्ष (संसारवृक्ष) के दु:ख-सुखरूपी कर्मफल को भोगता है। अत: स्वयं के रथीरूप में मन को इन्द्रियों से न जोड़कर अर्थात् मन को इन्द्रियों से जुड़ने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करते हुए बुद्धितत्त्व के सानिध्य को अपनाना आवश्यक हो जाता है। बुद्धि के निरपेक्ष विशुद्ध स्वरूप को ही प्रज्ञारूप में उस परमात्मा का प्रतीक लक्षण माना गया है- **'ॐ अग्ने नय सुपथा राये'** (ऋग्वेद १.१८९.१, यजुर्वेद ५.३६, १७.४३ एवं ४०.१६) अत: बुद्धितत्त्व की अधीनता में मन की विशुद्ध (निर्विषय) अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार योगावस्था की प्राप्ति हेतु विषयों के सेवन में प्रवृत्त नहीं होना, कर्मफल के प्रति आसक्ति को नहीं अपनाना और स्वयं के भोक्तास्वरूप का परित्याग करने हुए संकल्परहित हो जाना अर्थात् निरपेक्ष भाव में बुद्धि का आश्रय लेना आवश्यक माना गया है। इस हेतु बुद्धि के निरपेक्ष स्वरूप

को जिसे **'तुलारूप'** समता के सिद्धान्त' द्वारा प्रकट् किया गया है, को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार मानवदेह में निवास करते हुए जीवात्मा की असंगपुरुष अवस्था को प्राप्त करने हेतु दम-शम, आदि को अपनाते हुए संकल्प-विकल्पके परित्यागको अपनाकर ही योगावस्था को प्राप्त करना संभव होता है। जिसे प्रकट करते हुए गीतावाणी कथन करती है कि "जिस काल में कोई पुरुष न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्म की फलासक्ति में ही संयुक्त (लीन या लिप्त) होता है; उस काल में वह सब प्रकार के संकल्पों का परित्यागी पुरुष 'योगारूढ़' हुआ कहा जाता है।"

५.४ योग की प्राप्ति हेतु लिया गया चतुर्थ गीतोक्त कथन कि- **'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।'** (गीता ६.१७) नित्यजीवन में खान-पान, आमोद-प्रमोद और कर्मचेष्टा के मध्यम मार्ग को अपनाने की अपेक्षा करता है। जिसे बौद्ध दर्शन में सार रूप में अपनाया गया है।

५.४(१) धर्मग्रन्थ इस मानवदेह को धर्म रूपी आत्मा को प्राप्त करने का साधन होना वर्णन करते है- **'शरीरः धर्मस्य खलुसाधनम्'**। इसे ही जन्म-चक्र से मुक्ति का साधन मानते हैं- **इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।** (कठ.उप. २.३.४) (अनुवाद) "यदि शरीर का पतन होने से पहले, इस मनुष्य शरीर में रहते हुए ही अन्तःस्थ पुरुष का बोध प्राप्त कर सका तो ठीक है; नहीं तो फिर अनेक सर्गों में, नाना लोक एवं योनियों में, शरीर धारण करने को विवश होता है।" अतः जिस प्रकार हमारे द्वारा इस लोक में यात्रा करने एवं गंतव्य को सुगमतापूर्वक प्राप्त करने हेतु रथ रूपी वाहन एवं अश्वादि को चुस्त- दुरुस्त एवं हृष्ट-पुष्ट रखना आवश्यक होता है; उसी प्रकार इस मानवदेह को अपनी स्वस्थ अवस्था में धारण करना, योगावस्था को प्राप्त करने हेतु आवश्यक माना गया है। चूंकि वह एक परमपुरुष ही पति–पत्नी के उभयरूप को धारण करने वाला है अतः हम इस मानवशरीर का संधारण करते हुए कुशल सारथि की भाँति मन रूपी लगाम का उपयोग करते हुए दशेन्द्रिय रूपी अश्वों का नियन्त्रण करने वाले हो जावें, हम दम-शम को अपनाकर योगावस्था को धारण करने वाले बन जावें; इस अपेक्षा में ही संयुक्त वैवाहिक जीवन को दाम्पत्य जीवन कहा जाना प्रकट् होता है तथा उपनिषद् वाणी में राजा अश्वपति को ब्रह्मविद् होना वर्णन किया गया है। उन्हें राजर्षि रूप में ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासुजन- ब्राह्मणों को वैश्वानरविद्या का उपदेश करने वाला वर्णन किया गया है। (छा.उप.) महाभारत संहिता में आया यह आख्यान कि 'राजा नल अश्वविद्या के जानकार हैं तथा वे रथ संचालन की प्रक्रिया में पारंगत अवस्था को धारण करने वाले हैं'। (वनपर्व) अपने गुह्यरूप में इसी आत्मरहस्य को धारण करने वाला प्रकट् होता है।

यह योगावस्था की प्राप्ति हेतु नित्यजीवन में सम्यक् आहार-विहार एवं सम्यक् कर्मचेष्टा को अपनाने की आवश्यकता प्रकट् करता है।

५.४(२) उपनिषद् वाणी में श्रुति द्वारा प्रकट् किया गया है कि 'यह पुरुष अन्नरसमय है- **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१) यह देहधारी पुरुष अन्न और जल पर आश्रित है। श्रुति द्वारा देहस्थ प्राणतत्व को जलमय होना कहा गया है - **आपोमयः प्राणः।** (छा उप. ६.७.६) जल ही इस जीवात्मा का वस्त्र है। अतः अन्न के अभाव में जल से आच्छादित होकर यह प्राणतत्त्व इस मानवशरीर में टिका रहता है। यदि यह पुरुष पन्द्रह दिनों तक भोजन न करे और केवल जल का सेवन करता रहे तो देहस्थ 'प्राण तत्त्व' जल के आश्रय से इस मानवदेह में स्थिर बना रहता है। वह व्यक्ति अंग-प्रत्यंग की शिथिलता को प्राप्त होकर भी जीवित बना रहता है। किन्तु वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता और अविज्ञाता तो हो ही जाता है। फिर अन्न की प्राप्ति होने पर ही वह देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कर्म करने वाला तथा विज्ञाता होता है।'' (छान्दोग्योपनिषद् ७.९.१) अतः दुःखों का नाश करनेवाले योग की प्राप्ति हेतु सम्यक् आहार- विहार, सम्यक् कर्मचेष्टा एवं अतीत के अनुभव को सम्यक् रूप से नित्यजीवन में अपना लेना आवश्यक होता है, जिसे प्रकट् करते हुए गीतावाणी में कहा गया है कि- ''दुःखों का नाश करने वाला यह योग तो इस जगत् में यथायोग्य आहार-विहार को अपनाने वाले, स्व-कर्तव्य कर्म के प्रति सम्यक् चेष्टा करने वाले, भावीजीवन के प्रति यथायोग्य स्वप्न को देखने अर्थात् कर्मलक्ष्य का निर्धारण करने वाले एवं कर्म से प्राप्त बोध (अनुभव) को अपने नित्यजीवन में अपनाने वाले साधक पुरुष का ही सिद्ध होता है।'' (श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय छः में आये इस श्लोक की **'स्नान रहस्य'** ग्रन्थ के परिशिष्ट में योग प्राप्ति में सहायक अन्य श्लोक क्रमांक ११ से १७ के साथ विस्तार से चर्चा की गयी है। जिज्ञासुजन हेतु यह विवरण पठनीय है।)

५.५ योगावस्था की प्राप्ति हेतु लिया गया यह पंचम् गीतोक्त कथन कि- **'यदा विनियतं चित्त्मात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।'** (गीता ६.१८) चित्त की अपने आत्मस्वरूप में स्थित अवस्था को अपनाने और परब्रह्म परमात्मा के सतत् चिन्तन और भोगलालसा पूर्ण जीवन के परित्याग की अपेक्षा करता है।

५.५(१) इस श्लोक में योग की प्राप्ति हेतु कुल दो ही बातों का होना आवश्यक माना गया है तथा इनका न होना ही योग अथवा योगावस्था का अभाव होना कथन किया गया है। यहाँ योग प्राप्ति की प्रथम आवश्यकता- ''भली प्रकार से नियत की गयी अवस्था में चित्त का

अपने ही आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना'' प्रकट् की गयी है। चित्त की यह आत्मस्थ अवस्था धारणा, ध्यान और समाधि की समेकित अवस्था से जुड़ी हुई है। इस समेकित अवस्था को योगदर्शन ग्रन्थ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में **संयम** कहा गया है। संयम की इस अवस्था को प्राप्त कर लेने में चित्त तथा आत्मतत्त्व के गुणों को जान लेना एवं उन्हें अपनाना सहायक होता है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि मनीषीजन द्वारा चित्त को स्फटिक पत्थर की भाँति चमकीला, निर्मल, पारदर्शी , धवलरूप, शीतल एवं आकाश सदृश असंग प्रकृति का होना जाना गया है। इसका असंगता वाला गुण - **'असङ्गो न हि सज्यते'** (बृह.उप. ३.९.२६) (अनुवाद)- 'जो असंग है इसलिये किसी से नहीं जुड़ता' - ही पुरुषतत्त्व को प्रकट् करता है। अत: चित्तरूपी मानसपटल पर इन गुणों को दृढ़तापूर्वक धारण करते हुए अपने आत्मामें स्थित हो जाना अर्थात् श्रुति एवं श्रीमद्भगवद् गीता में वर्णित अविनाशी आत्मा द्वारा धारण किये गये गुणों- रसमय होना, मुदितामय होना, शौर्यमय होना, सदैव ही कर्मरत अवस्था को धारण करना, सबकी कर्मचेष्टा का आधार होना, सदैव ही सचेत या जागृत अवस्था को धारण करना, सर्वाधार होना, अचल होना और चलायमान भी होना, सर्वव्यापी होना, असंग, अकर्ता, अव्यय, अदाह्य, अच्छेद्य, अशोष्य, अक्लेद्य, अजन्मा, आदि गुणों को धारण करने वाला और सर्वावस्था में गुणरहित होना वर्णन किया गया है। अत: इन गुणों की स्मृति को धारण करना या सर्वथा गुणरहित हो जाना, द्वितीय आवश्कता- सम्पूर्ण इच्छा, लालसा और तृष्णाओं के प्रति स्पृहारहित अवस्था को धारण करना अर्थात् सर्वावस्था में किसी भी प्रकार की उपेक्षा या अपेक्षा को नहीं अपनाना, जिसे कि गीतावाणी में - **'न द्वेष्टि न कांक्षति'** (गीता ५.३), **'न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति'** (गीता १२.१७), एवं **'न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति'**, (गीता १४.२२) अर्थात् जिसे ''न किसी से द्वेष करना, न आकांक्षा करना'; 'न हर्षित होना, न द्वेष करना, न शोक करना और न कामना करना' तथा 'न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करना और न निवृत्त होने पर उनकी आकाँक्षा करना'' कहा जाकर प्रकट किया गया है, को अपनाना अर्थात् इन कुल छः बातों को नित्य आचरण में अपना लेना ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है।

५.५(२) योग की प्राप्ति हेतु आवश्यक ये दोनों ही बिन्दू परस्पर आश्रित होना प्रकट् होते हैं। चूंकि चित्त अन्त:करण का प्रमुख अंग होकर 'पुरुष' और 'प्रकृति' इन दोनों ही तत्त्व को उभयरूप संयुक्त स्वरूप में धारण करता है। अत: चित्त की इस उभयरूप अवस्था में मन, बुद्धि, अहंकार एवं त्रिगुणों पर आधारित प्रकृति अभिमुख अवस्था का परित्याग करते हुए अर्थात् इनके प्रति द्रष्टाभाव को धारण करते हुए केवल पुरुषाभिमुख अवस्था को जिसे असंगता को

धारण करना कहा गया है, को अपना लेना अर्थात् सर्वावस्था में अपनी असंग अवस्था में स्पृहारहित हो जाना या साक्षीरूप द्रष्टा बन जाना ही योग को प्राप्त कर लेना है। गीतावाणी कथन करती है कि जिस क्षण कोई पुरुष इन दोनों ही बातों को अपना लेता है, उस समय वह योग को प्राप्त हुआ कहा जाता है। स्पष्ट है जिस क्षण कोई पुरुष इन दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति करता है या इन दोनों ही गुणों को धारण करता है, उस समय वह योग को प्राप्त किया होता है और, जिस समय इन दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता है, तब वह अपने जीवभाव में विचरण कर रहा होता है। वह इस अविनाशी आत्मवृक्ष (संसारवृक्ष) के दुःख-सुख रूपी कर्मफल का भोग कर रहा होता है। वह कार्य-कारण शृंखला आधारित कर्मबन्धन को अपना कर जीवन व्यतीत कर रहा होता है, जिसके आधार पर इस संसारवृक्ष (आत्मवृक्ष) को सनातन होना जाना गया है- **एषोऽश्वत्थ: सनातन:**। इसे अधो शाखः कहा गया है।अत: गीतावाणी व्यष्टिपरक रूप में प्रकट् करती है कि ''जिस काल में भलीभाँति नियत किया हुआ चित्त परमात्मा में ही अर्थात् अपने असंग, अकर्ता, आत्मस्वरूप में सम्यक् रूप से स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों के प्रति स्पृहारहित हुआ वह पुरुष योगयुक्त है; ऐसा कहा जाता है।''

५.६ योग अथवा योगावस्था की प्राप्ति हेतु साधनरूप में लिया गया षष्ठम् गीतोक्त कथन कि- '**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।**' (गीता ६.३१) 'सर्वावस्था में, समस्त प्रकार का लौकिक आचरण करते हुए उस एक परमात्मा को सर्वरूप में उपस्थित देखने की अपेक्षा करता है। जिस प्रकार हमारे द्वारा सब प्रकार की लकड़ी में एक अग्नि तत्त्व का उपस्थित होना जाना जाता है और इस ज्ञान के अनुसार ही लकड़ी अथवा तृण के प्रत्येक भाग का उपयोग, रखरखाव एवं उसकी रक्षा का कार्य सम्यक् सावधानीपूर्वक किया जाता है, उसी प्रकार उस एक सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को सब प्राणीसमुदाय में उपस्थित होना जानकर, उसको ही सबका अन्तर्यामी होना मानकर और इस बोध को सर्वकाल में धारण करते हुए परस्पर लौकिक आचरण को अपनाना ही योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। सर्वावस्था में योग को धारण किये रहना है। और, यही योग की चिर अवस्था को धारण करते हुए विचरण करना है।

५.६(१) यह गीतोक्त कथन सर्वकाल में योग को धारण करने हेतु स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार कोई कलाकार नाट्यमंच पर उपस्थित और अभिनयरत सब कलाकारों में नाटकके अभिनयपात्र से भिन्न, अन्य पुरुषरूप को उपस्थित होना जानकर अपना समस्त अभिनय-

कर्म सम्पन्न करता हुआ परस्पर आचरण को अपनाता है। उसके द्वारा सदैव ही नाट्यकलाकार रूप में अभिनयरत पुरुषरूप का स्मरण रखते हुए ही सब प्रकार का कर्म किया जाता है; उसी प्रकार यदि हम सब प्राणियों में उस एक परमात्मा को उपस्थित होना जानकर और इस भावबोध को सर्वकाल में मन:चेतना में धारण करते हुए परस्पर लौकिक आचरण को अपनाते हैं तो हम सब प्रकार का आचरण करते हुए योगावस्था में विचरण करते हैं; सदैव ही योगमय अवस्था को धारण करते हैं। इस प्रकार प्राप्त की गयी यह योगावस्था सबके लिये रसमय होकर आनन्द की अवस्था प्रदान करती है। उपनिषद् वाणी में श्रुति द्वारा उस परमात्मा को रसमय होना और उस रसमय परमात्मा को प्राप्त करने का परिणाम आनन्द में स्थित हो जाना वर्णन किया गया है- **रसो वै स:। रसँ्होवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।** (तैत्ति.उप. २.७) सर्वरूप मानवसमुदाय द्वारा अनुभव की जाने वाली इस आनन्दमय अवस्था के आधार पर ही आत्मद्रष्टा ऋषियों द्वारा इस सकल जागतिक व्यापार को उस अक्षरब्रह्म परमपुरुष परमात्मा का क्रीड़ाकर्म होना जाना गया है। वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) में भिन्न-भिन्न लौकिक आचरण करते हुए भी समस्त देहरूप में स्थित जीवात्मा को कर्मबन्धन से रहित होना प्रकट् किया गया है। इस प्रकार धारण की गयी यह योगावस्था ही योग के समष्टिपरक स्वरूप को प्रकट् करनेवाली होती है। यह सबको ही ब्रह्मभाव में स्थित करती है, जिसे अनवरत् रूपसे चलने वाले इस सृष्टिचक्र में ब्रह्मलोक रूप होना कथन किया गया है। (गीता ८.१६)

५.६(२) उपनिषद्वाणी में श्रुति का कथन है कि ''उस परमात्मा को मन के द्वारा ही देखा जा सकता है। इस जगत् में उस परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। उस परमात्मा को सर्वरूप में न देखकर ही यह मरणधर्मा मनुष्य पुनर्जन्म को प्राप्त होता है - **मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।** (बृह.उप. ४.४.१९) और, सब में उस एक परमात्मा को देखकर ही यह पुरुषरूप जीवात्मा अपनी लोकयात्रा को पूर्ण करता हुआ अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। (केनोपनिषद् २.५) अत: अनुशासन किया गया कि उस परमात्मा को - **'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'** (बृह.उप. ४.४.२०) (अर्थात्) 'एकरूप अवस्थामें ही देखना चाहिए।' अर्थात् रंगमंच पर उपस्थित सम्मुखपात्र में जिस प्रकार हमारे द्वारा देखे जा रहे पुरुषरूप (अभिनय रूप) से भिन्न पुरुषरूप (मूलरूप) को देखा जाता है, उसी प्रकार देखना चाहिए।

५.६(३) इस अवस्था को स्पष्ट करते हुए गीतावाणी आगे कथन करती है कि इस प्रकार

देखना ही (नित्यआचरण करना ही) अन्त:स्थ पुरुष को अपनी अक्षुण्ण अवस्था (षोडष कला अवस्था) में धारण करते हुए परमगति को प्राप्त कर लेना है, स्वयं की जीवित अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त कर लेना है :-

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

॥ गीता १३.२८ व ३० ॥

(अर्थात्) - ''जो पुरुष सब में समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता वह (अपने इस आचरण द्वारा) परमगति को प्राप्त कर लेता है।

जिस क्षण यह पुरुष समस्त भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह ब्रह्म ही हो जाता है।''

वेदवाणी उस एक परमात्मा को ही विश्वरूप होना वर्णन करती है- **'पुरुष एवेदं विश्वं'** । सबको उस परमात्मा का प्रकट् रूप होना वर्णन करती है- **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** । हम सर्वरूप में उस एक परमात्मा को देखने का भावबोध प्राप्त करें; पृथक्-पृथक् भिन्नता में उस एक परमात्म तत्त्व की उपस्थिति को देखें, इस आधार पर ही प्राचीन पुराण साहित्य में उस परमेश्वर के सहस्रनाम (नाम-रूप) का वर्णन करना अर्थात् विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, रामसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम, ललितासहस्रनाम, आदि नामस्तोत्र की रचना करना प्रकट् होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने स्वभाव एवं रूचि के आधार पर पराभक्ति हेतु एक ही गन्तव्य को प्राप्त करने का मार्ग पृथक्-पृथक् निर्धारित करना प्रकट् होता है। **यह जगत् नाम-रूपात्मक है।** यह सर्वत्र ही नाम एवं रूप की भिन्नता को धारण करता हुआ 'नाम आधारित रूप' या 'रूप आधारित नाम' की भिन्नता के द्वारा ही पृथक्-पृथक् जाना जाता है। नाम-रूप की भिन्नता के आधार पर ही पृथक्-पृथक् गुण-धर्म को धारण एवं प्रकट् करने वाला अनुभव किया जाता है। चूंकि नाम-रूप से परे इस जगत् में एक ही परमात्म तत्व सर्वत्र व्याप्त है- **'मत्त: परतरं नान्यत्किंचदस्ति धनंजय।'** (गीता 7.7) अत: किसी 'विवाह समारोह' में एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु अभिव्यक्ति को प्राप्त समस्त कार्य-रूप की भाँति यदि हम समस्त जागतिक नाम-रूप को एक ही परमात्म तत्व को अभिव्यक्त करने वाला जान लें तो सबके लिये सर्वावस्था में 'योग' प्राप्त करना या योगावस्था को धारण करना संभव हो जाता है। अत:

लौकिक जीवन की सर्वावस्था में योग की व्यष्टिपरक स्थिर अवस्था को प्राप्त करने हेतु गीतावाणी में वर्णन किया गया है कि ''जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझ परमेश्वरको ही भजता है, वह साधक पुरुष सब प्रकार से बरतता हुआ भी योगावस्था में ही स्थित बना रहता है।''

५.७ योगावस्था की प्राप्ति हेतु लिया गया सप्तम् गीतोक्त कथन - **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥'** (गीता ६.३२) समस्त भूतसमुदाय के प्रति स्वयं के द्वारा अनुभव की गयी अथवा की जानेवाली दुःख-सुखकी अनुभूति के समान ही दुःख-सुख की अनुभूति को (अर्थात् आत्मभाव को) अपनाना, योग की सर्वश्रेष्ठ अवस्था को धारण करना सूचित करता है।

५.७(१) विश्वरूपदर्शन नाम श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय में आत्मपुरुष श्रीकृष्ण द्वारा समस्त भूतसमुदाय को अपना ही प्रकट्रूप होना कथन किया गया है। (गीता ११.५ से ७) उपनिषद् वाणी प्रकट् करती है कि सब प्राणियों में एक परमात्मा को उपस्थित देखकर ही यह मानवदेहधारी पुरुष अमरता को प्राप्त करता है। - **भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति।** (केनोपनिषद् २.५) मृत्यु उपरांत वह पुनः लौटकर आता नहीं है। वह जन्मचक्र से सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है। अतः समस्त भूतसमुदाय को एक आत्मा का प्रकट्रूप होना जानकर सबके प्रति आत्मभाव को अपनाना और स्वयं के द्वारा अनुभव की जाने वाली दुःख-सुख की अनुभूति के समान ही अन्य सब प्राणियों के प्रति सादृश्यभाव (आत्मभाव) को अपनाकर आचरण करना ही योग की परमश्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त कर लेना है। प्राचीन संत साहित्य में आया यह वर्णन कि संत एकनाथ द्वारा अपनी तीर्थयात्रा में शिवाभिषेक हेतु कावड़ में ले जाया जा रहा गंगाजल रामेश्वरम् तक न ले जाया जाकर बीच रास्ते में ही तड़पते हुए प्यासे गधे को पिलाया गया है तथा इसे ही तीर्थ करना मान लिया गया है यह विवरण इसी आत्मभाव को धारण करना अर्थात् सादृश्यभाव आधारित योग की परम श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करना प्रकट् करता है। श्रेष्ठ योगी पुरुषों द्वारा आत्मभाव से जुड़ी हुई यह पीड़ा और प्रसन्नता का भाव जंगम पदार्थ यथा वनस्पति, वृक्ष या अन्य पदार्थ ग्रन्थ आदि से जुड़कर भी अनुभव की जाती है।

५.७(२) उपनिषद् वाणी में श्रुति प्रकट् करती है कि 'जो सभी को आत्मा देखता है, उसे पाप की प्राप्ति होती नहीं है, वह सम्पूर्ण पापों (पुण्य- पापरूप) से तर जाता है- **सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति।** (बृह.उप.४.४.२३) वह अपने जीवात्मा

की निर्विकार, धवलरूप शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह पुण्य-पाप रहित हो जाता है। अत: स्वयं के पुरुषरूप में समस्त प्राणीसमुदाय के प्रति धारण की गयी, आत्मभाव की इस अवस्था को योग की परमश्रेष्ठ अवस्था जाना गया है। मनीषीजन कथन करते हैं कि जिस योगी पुरुष द्वारा इस अवस्था को प्राप्त कर लिया गया है उस योगी पुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने की भावना हिंसक प्राणियों द्वारा भी की जाने लगती है। वे उस योगी पुरुष का सानिध्य प्राप्तकर अपनी हिंसकवृत्ति का परित्याग करने लगते हैं। अत: गीतावाणी में योगेश्वर, सद्गुरु श्रीकृष्ण का कथन है कि "हे अर्जुन! जो पुरुष अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में आत्मभाव से (= स्यवं की भाँति) सम देखता है और दु:ख-सुख को भी सब प्राणियों में स्वयं के दु:ख-सुख की भाँति सम देखता है, वह पुरुष 'परम श्रेष्ठ योगी' माना गया है।"

५.८ योगावस्था की प्राप्ति हेतु लिया गया यह अष्टम् गीतोक्त कथन कि- '**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मति: । वश्यात्मना तु यतता श्क्योऽवाप्तुमुपायत: ।।**' (गीता ६.३६) नित्य आचरण में असंयत् अवस्था का परित्याग करने एवं मन को वश में रखते हुए शास्त्रविहित उपाय को अपनाने की अपेक्षा करता है।

५.८(१) गीतावाणी में इस कथन से पूर्वतर स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रद्धावान् पुरुष इस 'प्रज्ञान स्वरूप' आत्मा को प्राप्त करने में सफल रहता है या फिर वह ऐसा संयतेन्द्रिय पुरुष जिसने दशेन्द्रियों की भोगवृत्ति एवं मन की चंचलता पर सम्यक्रूप से नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है, इस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है - **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् तत्पर:संयतेन्द्रिय:** । (गीता ४.३९) इसके साथ ही गीतावाणी में आगे यह भी प्रकट् किया गया है कि जो पुरुष शास्त्रविहित उपायों को नहीं अपनाता है, वह इस आत्मा को कदापि प्राप्त कर नहीं सकता है-

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। (गीता १६.२३)

अर्थात् - "जो पुरुष शास्त्रविधि का परित्याग करता हुआ अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना आचरण करता है या स्वैच्छिक उपायों को अपनाता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही।"

५.८(२) उस परमात्मा को प्राप्त करने हेतु मनमाना आचरण करना या शास्त्रविहित उपायों को न अपनाकर उग्र तप करना तो अपने ही आत्मा को 'कृष करना' अर्थात् स्वयं की क्षीण अवस्था को प्राप्त करना होता है। (गीता १७.५ व ६) जिस प्रकार अग्नि की अतिसूक्ष्म

चिंगारी अनुकूल परिस्थिति के मिलने पर भी आग के प्रदीपन कार्य में असमर्थ रहती है और स्वयं की शान्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार लम्बे समय तक भूखा रहना, या प्यास को सहन करना, या अन्य प्राकृतिक कष्ट जैसे शीत, धूप, सर्दी-गर्मी या बरसात को महात्मा जाजलि की भाँति सहन करना या निपट एकान्तवास को अपना लेना तो अन्त:स्थ पुरुष को कष्टप्रद अवस्था में डालना होता है। ये सब क्रियाएँ अपने ही आत्मा को 'कृष' करती हैं। ये मन की असंयत अवस्था को प्रकट् करती हैं, अत: इन्हें बाधक माना गया है तथा योग की प्राप्ति हेतु प्रमादरहित अवस्था को धारण करना आवश्यक जाना गया है।

५.८(३) गीतावाणी कथन करती है कि ''इस आत्मा को न वेदों के अध्ययन द्वारा; न यज्ञक्रिया के द्वारा; न दान के द्वारा और न उग्र तप:क्रिया को अपनाकर ही (अर्थात् वैदिक ऋचाओं का अध्ययन करते हुए मात्र उनके अभिधेयार्थ को अपनाकर, यज्ञरूप में मात्र कर्मकाण्ड को अपनाकर, अहंकार अथवा आत्मतुष्टि हेतु प्रदान किये गये द्रव्य द्वारा तथा योगाभ्यास, प्राणायाम एवं ध्यान की प्रक्रिया को काष्ठवत् यान्त्रिक रूप में अपनाकर ही) प्राप्त किया जा सकता है।'' (गीता ११.४८) तथा उपनिषद् वाणी में श्रुति का कथन है कि इस आत्मा को बलहीन व्यक्ति प्राप्त करने में सदैव ही असमर्थ रहता है। (मुण्ड. उप. ३.२.४) इस आत्मा को ''न तो वाणी से, न मन (तर्क) से और न स्थूल नेत्रों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसे तो 'वह अवश्य है'; इस प्रकार कहने वाले अर्थात् इस प्रकार का मनोभाव धारण करने वाले पुरुष (स्त्री-पुरुष) के अतिरिक्त दूसरा कौन इसे प्राप्त कर सकता है।'' (कठ.उप.२.३.१२) अत: जिस प्रकार हम गणित के सवाल या किसी गणितीय प्रहेलिका के समाधान हेतु सर्वप्रथम अज्ञात् संख्या का कोई न कोई मान होना, पूर्वत: स्वीकार कर लेते है और फिर गणितीय प्रक्रिया को अपनाकर उस संख्या का वास्तविक मान ज्ञात कर लेते है, उसी प्रकार 'यह आत्मा है', इस मनोभाव को दृढ़तापूर्वक तत्त्वत: अपनाकर ही अव्यय, अविनाशी, सनातन, अदृश्य, अतिसूक्ष्म, सर्वव्यापी आत्मा को प्राप्त किया जाना संभव होता है- **अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो।** (कठ.उप. २.३.१३) और, इस हेतु सत्यनिष्ठा (सत्य आचरण), सम्यक् ज्ञान, तितिक्षा एवं ब्रह्मचर्य को नित्यजीवन में अपनाना आवश्यक होता है। (मुण्ड.उप. ३.१.५)

५.८(४) कठोपनिषद् में श्रुति का कथन है कि - ''विशुद्ध अवस्था को प्राप्त सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा भी इस परमात्मा (आत्मा) को न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है जो बुरे आचरण से निवृत्त नहीं हुआ है; न वह प्राप्त कर सकता है जो अशान्त है; न वह प्राप्त कर सकता है जिसके

द्वारा दशेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार की लय अवस्था को प्राप्त नहीं किया है, और न वह व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है जिसका चित्त (अन्त:करण) शान्त नहीं है। (कठ.उप. १.२.२४) इस आत्मा को तो वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसका चयन स्वयं इस आत्मा द्वारा किया गया है - **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू ँ स्वाम्।** (कठ.उप. १.२.२३ एवं मुण्ड.उप. ३.२.३) अर्थात्- 'यह महान् आत्मा (परमात्मा) जिस किसी पुरुष का चयन (वरण) कर लेता है, उस व्यक्ति के समक्ष अपने यथार्थस्वरूप को आवरणरहित अवस्था में प्रकट् कर देता है।'' अत: इस आत्मा को योग अथवा योगावस्था रूप में प्राप्त करने हेतु स्वयं को ही पात्र बना लेना आवश्यक होता है। आत्मविकास की प्रक्रिया को अपनाकर उन गुणों को धारण करना आवश्यक होता है, जिनके आधार पर स्वयं का चयन किया जा सके। (इस पात्रता के विकास हेतु कृति **आत्मानुभूति,** विचारक्रम **'वृणुते अर्थात् सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'** -पृष्ठ १२६ से १४७ तक पठनीय।)

५.८(५) उपनिषद् वाणी कथन करती है कि 'पहले वह ब्रह्म ही था। उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अत: वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जिस-जिसने जाना वह तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों एवं मनुष्यों में जिसने उसे जाना वह तद्रूप हो गया।'' (बृह.उप.१.४.१०) इस प्रकार ब्रह्मरूप आत्मा को प्राप्त करने हेतु सर्वप्रथम ब्रह्मभाव को अर्थात् आत्मोपासना के **'सोऽहम्'** मंत्र को अपनाना आवश्यक होता है। श्वास-प्रश्वास के साथ इस 'सोऽहम्' मन्त्र को प्रणवनाद रूप में अपना लेना ही सिद्धि प्राप्त करने का साधन होता है। श्रुति द्वारा अन्य सब वाचिक मंत्रों का परित्याग करते हुए प्रणवनाद के इस व्यष्टिपरक स्वरूप 'सोऽहम्' मन्त्र को ही 'सेतु रूप' होना वर्णन किया गया है - **अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।** (मुण्डकोपनिषद् २.२.५) हम आरम्भत: ब्रह्मभाव को धारणकर इन्द्रिय संयम को अपनाने वाले हो जावें; इस उद्देश्य से ही मनुष्य जीवन के प्रथम सोपान को शिक्षा प्राप्ति के ब्रह्मचर्य आश्रम रूप में व्यतीत करने का अनुशासन प्राचीन धर्मसंस्थापक ऋषियों द्वारा किया जाना प्रकट् होता है। नासिका के उभयस्वर से प्रावाहित प्राणतत्त्व से उत्पन्न प्रणवनाद को संयतचित्त द्वारा प्राणोपासना रूप में अपनाकर अमरता का बोध प्राप्त करने के कारण ही देवगण 'सुर' कहे गये हैं तथा प्राणोपासना के साथ इस मंत्र को न अपनाकर अमरता बोध प्राप्त नहीं करने एवं भोगवृत्ति को अपनाने के कारण ही मरणधर्मा राक्षसों को 'असुर' कहे जाने का आधार होना प्रकट है। अत: गीतावाणी में आत्मपुरुष, योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन है कि- ''जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा 'योग'

प्राप्त करना दुष्प्राप्य है, किन्तु वशमें किये हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा शास्त्रविहित उपाय से योगावस्था को प्राप्त कर लेना सहज है; ऐसा मेरा यह मत है।''

५.९ इस प्रकार योग की स्थिर अवस्था को प्राप्त करने हेतु इस मानवदेह में निवास करते हुए सदैव ही कर्मरत बने रहना, कर्मफल को उस परमेश्वर के प्रति समर्पित कर देना, दशेन्द्रियों की स्थिर अवस्था को धारण करना, मन:संयम को अपनाना, बुद्धि की निश्चल अवस्था को धारण करना, कर्ताभाव से रहित हो जाना, सर्वावस्था में समता का भाव धारण करना, सब प्राणियों के प्रति आत्मभाव को अपनाना, स्वयं के द्रष्टास्वरूप में स्थित हो जाना तथा स्फटिक पत्थर की भाँति स्वयं की निर्विकार, स्वच्छ, पारदर्शी, धवलरूप, आकाशवत् असंग एवं स्वयंप्रका अवस्था को धारण करना आवश्यक होता है। चूंकि इस कर्मलोक में कोई भी मनुष्य क्षणभर के लिये भी कर्म से विरत अवस्था में स्थित रहता नहीं है। (गीता ३.५) और यह अक्षरस्वरूप आत्मा क्षणभरमात्र के लिये भी अपनी ज्योतिर्मय, धवलरूप, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, रसमय, आनन्दमय, शीतल, शौर्यमय, असंग अवस्था का परित्याग करता नहीं है; अत: महर्षि श्रीअरविन्द का कथन है कि- **'सम्पूर्ण मानव जीवन एक योग है।'** युगपुरुष श्रीअरविन्द का यह कथन स्वचेतना को अन्त:स्थ पुरुष से जोड़ने, मन:संयम को अपनाने, सदैव कर्मरत अवस्था को धारण करने, आनन्दमय चित्तवृत्ति को अपनाने, आचरण की रसमय अवस्था को धारण करने और द्रष्टारूप निर्विकार अवस्था को अपनाकर, ईश्वर प्रीत्यर्थ जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है। इस प्रकार प्राप्त की गयी योगावस्था सब के लिये आत्मकल्याण का साधन होती है। यह सबके लिये, सब प्रकार के दु:खों का निवारण कर अक्षयसुख प्रदान करती है।

वेदवाणी में योग

६. वेदवाणी योग अथवा योगावस्था की चर्चा पृथक् से नहीं करती है। वेदवाणी का कथन है कि 'यह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्मा का प्रकट् रूप है- **पुरुष एवेदँ सर्वं**। वेद ऋचाओं में आत्मद्रष्टा ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा **एक:, एका, एकम्, दश, शत और सहस्र** शब्द का उपयोग करते हुए इनके गूढ़ार्थ रूप में जो कुछ भी पुल्लिंग रूपमें; जो कुछ भी स्त्रीलिंग रूपमें; जो कुछ भी नपुंसकलिंग रूपमें; जो कुछ भी अपनी प्रकट् और अप्रकट् बोधगम्य, सगुण, आयतनवान, साकार अवस्था में; जो कुछ भी पूर्णता के गुण को धारण करने वाले स्वरूप में; और जो कुछ भी अनेक, बहुत, अनन्त या सर्वरूप होना वर्णन किया गया है, वह

सब का सब चर-अचर भूतसमुदाय उस परमात्मा का प्रकट् रूप है। एक से अनेक हुआ प्रकट् रूप है। वह सब उस परमेश्वर की महिमा को प्रकट् करने वाला है। वह सब भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में व्याप्त उसके सकल स्वरूप का बोध प्रदान करने वाला है।

६.१ इस सर्वरूप का वर्णन करते हुए वेदवाणी में श्रुति का कथन है कि :-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वातिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

॥ ऋग्वेद १०.९०.१ यजुर्वेद ३१.१ ॥

-"वह परम पुरुष अनेक सिरों वाला, अनेक आँखों वाला और अनेक पैरों वाला है। वही इस भूमि को सब ओर से आवृत्त करके स्थित है, तथापि वह अपने साकार स्वरूप में अँगुलीभर (अर्थात् अँगुली निर्दिष्ट अवस्था में बोधगम्य) शेष बचा रहता है।"

पुरुष एवेद् ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

।। ऋग्वेद १०.९०.२, यजुर्वेद ३१.२, अथर्ववेद १९.६.४ एवं
श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१५।।

-"यह सब कुछ एक परम पुरुष परमात्मा ही है। इस सृष्टि-जगत् में जो कुछ पहले हो चुका है, तथा जो भविष्य में होने वाला है और जो इस समय अन्न के द्वारा अभिवृद्धि को प्राप्त कर रहा है। (वह सब एक परमात्मा ही है।)।'

परम पुरुष परमात्मा के इस विराट्रूप वर्णन में श्रुति का यह कथन कि "इस समय जो अन्न के द्वारा वृद्धि को प्राप्त कर रहा है, वह सब कुछ एक परमात्मा ही है।" अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। यह विवरण उस परमात्मा के सकल प्रकट् रूप को 'अन्न ग्रहण करने' एवं 'अन्न ग्रहण नहीं करने' के आधारपर परस्पर विभाजित करने वाला हो गया है। यह वर्णन समस्त प्रकट् जगतरूप को उभयरूप में विभाजित करता है, जिसे श्रुति द्वारा 'चलने वाला' एवं 'नहीं चलने वाला'- **'तदेजति तनैजति'** (यजुर्वेद ४०.५) कहा जाकर प्रकट किया है तथा जिसे हमारे द्वारा चर-अचर कहा जाकर 'जड' या 'चेतन' रूप में जाना गया है। उस एक परमात्मा को अपने सर्वरूप में जड़ अथवा चेतन या चर-अचर अवस्था को धारण करने वाला वर्णन किया गया है।

उपनिषद्वाणी में श्रुति इस सर्वरूप एवं सर्वाधार 'पुरुष तत्त्व' को **'षोडशान्तं'** (श्वेता.उप. १.४) अर्थात् ''सोलह सिरों को धारण करने वाला'' वर्णन करती है। उस परमेश्वर के इन 'सोलह सिरों' को हमारे द्वारा पुरुष रूप में धारण की गयी 'सोलह कला' जाना गया है तथा 'पूर्ण पुरुष परमात्मा' को 'सोलह कला पुरुष' होना वर्णन किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में श्रुति द्वारा पुरुषतत्त्व द्वारा धारण की गयी ये सोलह कलाएँ क्रमशः :- (१) प्राण, (२) श्रृद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) तेज, (६) जल, (७) पृथिवी, (८) मन या अन्तःकरण, (९) इन्द्रियाँ, (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र, (१४) कर्म, (१५) लोक एवं (१६) नाम, होना वर्णन की गयी हैं। (प्रश्नोपनिषद् ६.२ से ४) इस 'षोडश कला' अवस्था में समस्त भूतसमुदाय एक से पन्द्रह तक की कलाओं को धारण करने वाला होकर चर-अचर रूप में जाना जाता है। तथा यह मानवदेहधारी पुरुष अपने स्त्री-पुरुष और नपुंसक रूप में नाम रूपी सोलहवीं कला को पृथक्-पृथक् धारण करने वाला होकर 'पुरुषरूप' में जाना जाता है। यही इसकी पूर्णता होती है। पुरुषरूप मानवदेह की सोलह कला अवस्था होती है। श्रुति इस पुरुषरूप मानवदेह में ही ''अँगुष्ठमात्र'' पूर्ण पुरुष परमात्मा द्वारा अपनी 'षोडश कला' अवस्था में निवास करना वर्णन करती है। (कठोपनिषद्२.३.१७) अतः परम पुरुष परमात्मा का यह जो सोलह कलाओं को धारण करने वाला चर-अचर प्रकट् रूप है यह 'अन्न ग्रहण करने' एवं 'अन्न ग्रहण नहीं करने' के आधार पर उभयरूप विभाजन को धारण करने वाला हो गया है। इस उभयरूप विभाजन में जो अन्न को ग्रहण करने वाला है उसे ही 'चेतन' तथा शेष समस्त को 'जड़' रूप में जाना जाता है। यही इस सर्वरूप परमात्मा का अन्न के द्वारा वृद्धि प्राप्त करने वाला और अन्न को ग्रहण नहीं करने वाला प्रकट्रूप है। जिसके आधारपर इस पुरुषरूप आत्मा को अविनाशी, अव्यय एवं सनातन होना जाना जाकर धर्मग्रन्थों में प्रकट् किया गया है।

इस प्रकार श्रुति परम पुरुष (पुरुष तत्त्व) की 'सोलह कला' अवस्था में समस्त भुतसमुदाय को उस परमेश्वर का प्रकटरूप होना वर्णन करती है। अन्न ग्रहण करने एवं अन्न ग्रहण नहीं करने के आधार पर इसे चेतन एवं जड़ तथा चलने एवं नहीं चलने के आधार पर चर-अचर रूप में परस्पर विभाजित करती है तथा इसका यह जो 'सोलह कला' पुरुषरूप है इसे ही उस पूर्ण पुरुष का प्रकटरूप होना अभिव्यक्त करती है। इसे अन्नरसमय होना वर्णन करती है- **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**' (तै.उप. २.१.१)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह मानव देहधारी पुरुष (स्त्री-पुरुष) उस परमात्मा का प्रतिरूप

होकर अपनी 'सोलह कला' अवस्था में चर और अचर इन दोनों ही अवस्थाओं को धारण करता है। यह आलस्य एवं अकर्मण्यता को धारण कर नहीं चलने वाला अर्थात् जड़ता को धारण करने वाला होता है तथा कर्मरत अवस्था को अपनाकर ही यह 'चलने वाला' जाना जाता है। यह चलकर ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करता है। इस अवसर पर हमें स्मरण करना चाहिए कि गीतावाणी में शिष्य एवं सखा अर्जुन द्वारा आत्मपुरुष सद्गुरु श्रीकृष्ण से इस चलने अर्थात् कर्मरत अवस्था के बारे में ही जान लेना चाहा है कि अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ 'यह पुरुष किस प्रकार चलता है' - **'व्रजेत किम्।'** (गीता 2.54) अर्थात् 'वह किस प्रकार कर्म को अपनाकर योगावस्था को धारण करता है।'

६.२ वेदवाणी सर्वरूप परमात्मा को अग्निपुरुष होना कथन करती है। उसे ही इस सृष्टियज्ञ का संचालन करने वाला पुरोहित, इस सृष्टियज्ञ का एकमेव आराध्यदेव, इस सृष्टियज्ञ की नियामक ऋचाओं का सृजन एवं उच्चारण करने वाला ऋत्विज, इस सृष्टियज्ञ को सतत् जारी रखने हेतु आहुति प्रदान करने वाला होता और इस सृष्टियज्ञ हेतु समस्त बहुमूल्य यज्ञसम्पदा को धारण करने वाला रत्नधाता होना वर्णन करती है - **ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।** (ऋग्वेद १.१.१) इस पञ्चधा रूपमें उसको ही सब मनुष्यों का आराध्यदेव होना कथन करती है। उस एक अग्निपुरुष को ही कर्म का अधिष्ठाता एवं विश्वरूप होना वर्णन करती है- **सर्वतः पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः। विश्वरूपो महानग्निः प्रणीतः सर्वकर्मसु।।**

६.३ मनीषी ब्रह्मविद् ऋषियों द्वारा उस परमात्मा के इस अग्निपुरुष रूप को चतुष्पाद् स्वरूप को धारण करने वाला जाना गया है। अग्निपुरुष परमात्मा का यह चतुष्पाद् स्वरूप :- **(१)** 'परा अग्नि' रूपमें- सबके अस्तित्व का कारण होना- **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति';** (कठ.उप. २.२.१५, मुण्डक. २.२.१० एवं श्वेता.उप. ६.१४) **(२)** 'कारण अग्नि' रूप में- समस्त प्राणीसमुदाय में स्थित वैश्वानर अग्नि रूप में सबके जीवन का आधार होना- **'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'।** (गीता १५.१४) **(३)** 'सूक्ष्म अग्नि' रूप में- 'शब्द स्वरूप' को धारण कर गहन अंधकार में भी सबका ज्योतिर्मय पथप्रदर्शक होना- **वाचैवायं ज्योतिः।** (बृह.उप. ४.३.५) और, **(४)** 'स्थूल अग्नि' रूप में- प्रत्यक्ष अंगार स्वरूप होना, कथन किया गया है। स्वयं के पुरुषरूप में अग्निपुरुष परमात्मा के इस चतुष्पाद् स्वरूप को जानकर पुण्य-पाप से रहित स्वयं का अंगार स्वरूप (अंगिरा ऋषि) हो जाना वर्णन किया गया है तथा शब्द रूप सूक्ष्म अग्नि को 'जातवेद' कहा गया है।

६.४ वह अग्निपुरुष परमात्मा अपने पञ्चधा (ऋग्वेद प्रथम ऋचा) रूप में मानवमात्र के देहरूप में स्थित रहकर ऊष्णता के द्वारा अपनी उपस्थिति का बोध प्रदान करता है। इस अग्निपुरुष द्वारा मानवशरीर को छोड़कर चले जाने पर यह पुरुष शरीर शीतलता को प्राप्त हो जाता है। फिर इसे स्थूल अग्नि में ही आहुति रूपमें समर्पित कर दिया जाता है या फिर इसे पञ्चभूतात्मक पृथिवी को अर्पित कर (अर्थात् पृथिवी में गाढ़) दिया जाता है। या पक्षियों के भक्षण हेतु खुले आकाश में छोड़ दिया जाता है। आत्मसाधना द्वारा योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करने के प्रयास में यह अग्निपुरुष परमात्मा ही अपने स्वर्णिम प्रकाशयुक्त, तेजोमय, आदित्यरूप में साक्षात्कार किया जाता है। यह पूर्ण पुरुष रूप में - सकल जगत के कारण रूप में - इस मानवदेह में स्थित होना जाना जाता है। इस पुरुष रूप को ही हिरण्यगर्भ कहा गया है। इस हिरण्यगर्भपुरुष को आत्मस्थ अवस्था में देखकर ही आत्मद्रष्टा ऋषि का कथन है कि- **'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** (यजुर्वेद ४०.१६) अर्थात् ''इस प्रकार का वह जो (अतिशय कल्याणमय प्रकाश रूप तेजोमय) पुरुष है, वह मैं स्वयं हूँ।'' इस प्रकार वेदवाणी देहस्थ आत्मा को ही स्वयं प्रकाश होना कथन करती है। इस पुरुषदेह को उस परमात्मा का प्रकट्रूप होना वर्णन करती है। इसे पुरुष रूप में 'सोलह कला' अवस्था को धारण करने वाला वर्णन करती है। (कृति- 'पुरुष तत्त्व' की सोलह कलाएँ और पति-पत्नी का प्रकट्रूप, पठनीय) अतः स्वयं के पुरुषरूप (स्त्री-पुरुष रूप) में इस अग्निपुरुष परमात्मा का बोध प्राप्त कर स्वयं के ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप को धारण कर लेना अर्थात् आचरण की धवलरूप, निर्विकार, प्रखर अवस्था को प्राप्त कर लेना ही योग की परम प्राप्ति है।

६.५ वेदवाणी इस मानवदेह को अयोध्यापुरी होना वर्णन करती है। तथा इस मानवदेहरूपी अयोध्यापुरी में ही ज्योतिर्मय हिरण्यपुरुष का निवास होना करना कथन करती है :-

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्यमयः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।
तस्मिन् हिरण्ये कोषे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

।। अथर्ववेद १०.२.३१ ।।

अर्थात् - ''आठ चक्रों वाली तथा नव द्वार (= छिद्र) वाला यह मानव शरीर ही देवताओं की अयोध्यापुरी है। उसी इस शरीर रूपी पुरी के शिरोभाग में सुनहले वर्ण का एक कोष (= ब्रह्म गुहा) अत्यन्त सुखमय है। यह ज्योति से समाच्छादित है। उस ब्रह्मगुहा के

स्वर्णाभ कोष में - तीन रेखाओं के त्रिकोण में जो एक प्रकाश सतत् गतिशील है - 'वही आत्मा है'- ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष जानते हैं।''

अत: इस मानवदेह में निवास करते हुए प्रकाशरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना ही पुरुषरूप जीवनयात्रा का एकमेव लक्ष्य होता है। आत्मस्वरूप को प्राप्त करना होता है। स्वयं के सगुण ब्रह्मस्वरूप का बोध प्राप्त करना होता है जिसे *'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'* अथवा *'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'* कहा गया है। प्राचीन पुराण कथाओं तथा उपनिषद्वाणी में ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा सगुण ब्रह्म श्रीराम को इस अयोध्यापुरी का राजकुमार होना तथा जिस पुरुष द्वारा दम-शम को अपनाकर स्वप्रज्ञा द्वारा दशेन्द्रियों की भोगलालसा पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया गया है तथा रथ से जुते हुए अश्वों की भाँति दशेन्द्रियों की अनासक्त एवं स्थिर अवस्था को धारण कर लिया है, उसे ही पुराण कथाओं में इस अयोध्यापुरी का अधिपति **'राजा दशरथ'** होना वर्णन किया गया है। अत: लौकिक धरातल पर स्वयं की इस 'सगुण ब्रह्म स्वरूप' अवस्था का संज्ञान धारण करते हुए ही वेदवाणी में कामना की गयी है कि-

ॐ तनूपा ऽ अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
ॐ आयुर्दा ऽ अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
ॐ वर्चोदा ऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
ॐ अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽ आपृण॥

॥ यजुर्वेद ३.१७ ॥

अर्थात् -''हे अग्नि स्वरूप परमात्मा! आप तनुता को धारण करने वाले हैं, अत: मैं भी (प्राणोपासना करते हुए) तनुता को (= देह के इकहरेपन को) प्राप्त करुं। आप आयु को प्रदान करने वाले हैं, अत: मुझे दीर्घायु प्रदान करें। आप वर्चस्व को प्रदान करते हैं, अत: मुझे भी इस जगत् में वर्चस्व अर्थात् महिमा प्रदान करें। हे अग्नि स्वरूप परमात्मन्! मेरे इस मानव जीवन में अर्थात् मेरे व्यक्तित्व में जो कुछ भी न्यूनतारूपी अपूर्णता है; आप, उसे दूर कर पूर्णता प्रदान करें।''

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

।। यजुर्वेद १९.९ ।।

अर्थात् - "हे परमेश्वर! आप तेजोमय हैं, मुझे भी तेजस्विता प्रदान करें। आप वीर्यवान् हैं, मुझे भी वीर्यवान् बनाएँ। आप बलशाली हैं, मझे भी बलयुक्त बनाएँ। आप ओजस्वी हैं, मुझे भी ओज् प्रदान करें। आप दुष्टों का दमन करने वाले (= अनीति, अन्याय, अत्याचार, दुराचार, आदि को दूर करने वाले) हैं, मुझे भी दुष्टों का दमन करने की सामर्थ्य प्रदानकर नीति और सन्मार्ग का पक्षधर बनाएँ। आप सहनशीलता को धारण करने वाले हैं, मुझे भी सहनशील बनाएँ।"

इस प्रकार मनुष्य जीवन की इस पूर्णता को प्राप्त कर लेना ही वेदवाणी के अनुसार मनुष्यमात्र की जीवनयात्रा का एकमेव लक्ष्य होता है, जिसे प्रकट् करते हुए ऋग्वेद में श्रुति का कथन है कि - **यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा धा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाषिषः।** (ऋग्वेद ८.४४.२३) (अर्थात्) "हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय, तो तेरा आशीर्वाद (सब प्राणियों के कल्याण का संकल्प) संसार में सत् हो जाय।" इस प्रकार वेदवाणी के अनुसार दम-शम को अपनाकर स्वयं के इस पुरुषरूप में उस परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त कर लेना ही मानवजीवन की सार्थकता होती है और, यही योग की प्राप्ति भी।

६.६ इस प्रकार वेदवाणी मनुष्यरूप में स्वयं को अग्निपुरुष परमात्मा का प्रकट्रूप होना जानकर, इस अग्निपुरुष परमात्मा की आराधना करते हुए, इसे ही प्राप्त करने का अनुशासन करती है और इस आराधना का परिणाम इस भूतल पर देवताओं का उतर आना बतलाती है-

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनै रुत।
स देवाँ एह वक्षति।। (ऋग्वेद १.१.२)

अर्थात् - "प्राचीनकाल में ऋषियों (आत्मविद् पुरुषों) द्वारा उपासना किया गया वह अग्निपुरुष परमात्मा नवीन ऋषियों (आत्मविद् पुरुषों) के द्वारा वर्तमान काल में भी उपासनाकिया जाने योग्य है। वह 'अग्नि पुरुष' ही देवताओं को यहाँ इस भू-लोक में लाता है।" (एह वक्षति =यहाँ लाता है। किस प्रकार लाता है ? जिस प्रकार गाय का बछड़ा दौड़कर गायों के समूह में अपनी माता के पास पहुँचकर दुग्धपान करता है, उसी प्रकारयहाँ इस लोक में देवताओं को लाता है। अर्थात् मनुष्यमात्र को अमरता का बोध प्रदानकर जीवन को सुखमय बनाता है।)

इसके साथ ही वेदवाणी वर्ण, जाति, लिंग, स्थान, आदि की भेदरहित अवस्था में सकल मानवसमुदाय को उस 'अग्नि पुरुष परमात्मा' का प्रकट्रूप होना आधार पर उस 'महत् पुरुष' की उपासना का मार्ग प्रकट करते हुए वर्णन करती है कि-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

।। ऋग्वेद १०.९०.१६ ।।

अर्थात् - ''अपने सर्वात्म स्वरूप का बोध धारण करने वाले पुरुषों (देवाः) ने इस सृष्टि के सृजनकर्ता परमदेव की अपने-अपने यज्ञरूप (= फलाकाँक्षा से रहित) स्वकर्म द्वारा अर्चना की। वे सब के सब स्वकर्मरूपी स्वधर्म वहाँ (इस पृथिवी लोक में) पहले से ही (प्रमुखता से) विद्यमान थे। अपने-अपने स्वधर्मरूपी स्वकर्तव्यकर्म का पालन करते हुए वे सब लोग दुःखरहित, सर्वसुखमय, स्वर्ग की जीवन महिमा को प्राप्त हुए। ऐसा करके उन सब लोगों नें जहाँ थे वहीं पर तत्काल ही (अर्थात् जिस कर्तव्यकर्म रूपी स्वधर्म का पालन कर रहे थे उस स्वकर्तव्य कर्म का पालन करते हुए ही), उन सब पुरुषों (स्त्री-पुरुषों) ने वांछित मोक्षरूपी' जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त किया।''

६.७ इस प्रकार सर्वरूप मानवसमुदाय द्वारा स्वयं का ब्रह्मरूप होना जानकर; स्वयं को अग्निपुरुष परमात्मा का प्रकट् रूप होना जानकर; देहस्थ जीवात्मा के अविनाशी, अव्यय, अक्षर, स्वरूप को जानकर; इस मानवदेह में अग्नितत्त्व का उपस्थित रहना ही जीवन का एकमात्र कारण है, इस एकमेव तथ्य को जानकर; स्वकर्म की श्रेष्ठता को अपनाकर, स्वयं के कर्तव्यकर्म को उस परमेश्वर के प्रति समर्पित कर देना और कर्म द्वारा उस परमेश्वर की उपासना करना ही मोक्ष को प्राप्त कर लेना है। जन्मचक्र की पूर्णता को प्राप्त कर परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त कर लेना है। इस धरा पर सबके द्वारा जीवन की सर्वसुखमय, स्वर्ग की जीवन अवस्था को प्राप्त कर लेना है। इस धरा पर मनुष्यरूप में जीवन व्यतीत करते हुए देवत्व को धारण कर लेना है। इस भू-लोक में सबके द्वारा अपने देवरूप में रूपांतरण को प्राप्त कर लेना है। सकल जगत् के धारणकर्ता उस परमेश्वर से अपनी सायुज्यता को प्राप्त कर लेना है। जिसे हमारे द्वारा योग अथवा योगावस्था रूप में जाना गया है।

अतः जिस प्रकार इस जागतिक धरातल पर प्रकट् हुआ समस्त चर-अचर भुतसमुदाय अपनी गुणमय अवस्था को; आत्मस्वरूप की पूर्णता को; स्वयंप्रकाश अवस्था को और अपनी परहितकारी अवस्था को धारण करता है। स्वयं के लिये नहीं अपितु परहित में जीवन जीता है। उसी प्रकार मनुष्यरूप में स्वयं की गुणवान संस्कारमय अवस्था को; स्वाभिमान से परिपूर्ण स्वावलम्बी जीवन को; कर्म की निपुणता या श्रेष्ठता को, वाणी की सुमधुर रसमय अवस्था को, नित्यआचरण की धवलरूप निर्विकार स्वयंप्रकाश अवस्था को धारण करना

और जागतिक धरातल पर स्वयं की उपयोगिता रूप में परोपकारमय जीवन व्यतीत करना ही योगावस्था रूप में उस परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेना है। स्वयं के सगुणब्रह्म रूप में परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेना है। इस मानवजीवन को धारणकर जीवन-चक्र की पूर्णता को प्राप्त कर लेना है। जहाँ से इस अंशरूप जीवात्मा की यात्रा आरम्भ हुई है और जिसे 'अन्तिम बिन्दु' कहते हैं, उसी बिन्दु अथवा उस मूलअवस्था को प्राप्तकर उस परमेश्वर के पास लौट जाना है। इस एक मानवजन्म में यहीं पर उस परमात्मा को प्राप्त कर लयअवस्था को प्राप्त कर लेना है। यही नानासर्ग एवं नानायोनि आधारित कल्पान्त जन्मचक्र को पूर्णता प्रदानकर स्वधाम को प्राप्त कर लेना है। और, अनवरत रूप से चलने वाले इस सृष्टिचक्र में किसी एक सृष्टिचक्र (चतुर्युगी) का पूर्ण हो जाना भी।

उपसंहार

७. उपनिषद्वाणी में श्रुति द्वारा अविनाशी आत्मा को ब्रह्म कहा गया है- **अयमात्मा ब्रह्म।** (माण्डू.- २) तथा आत्मद्रष्टा ऋषियों द्वारा मन को ही 'ब्रह्म' होना जाना गया है- **मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।** (तैत्ति.उप. ३.५.१) अत: योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करना देहस्थ आत्मा को मन के द्वारा प्राप्त कर लेना होता है। मन का ब्रह्ममय हो जाना होता है। यह जीवात्मा पृथक् है और वह परमात्मा पृथक् है इस मनोभाव को धारण करना तो अज्ञान स्वरूप होता है- **अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद** (बृह.उप. 1.4.10) यह मानव मन जो इस देहरूपी आवरण से जुड़कर मात्र देहबोध को अपनाने वाला हो गया है; अनेक जन्मों की यात्रा करता हुआ यह जो स्वयं के देहरूप को ही अपना प्रकट्रूप मानने वाला हो गया है; और, यह जो अपने विराट् रसमय स्वरूप की विस्मृति को प्राप्त कर स्वयं की पृथक्ता को अपनाने वाला हो गया है। यह स्वआत्मस्वरूप की स्मृति को प्राप्त कर सके। यह अपनी ज्वर-जरा से रहित स्वस्थ (स्व + स्थ: = स्वस्थ:, अर्थात् अपने आत्मस्वरूप में स्थित) अवस्था को धारण कर सके। यह इस मानवदेह में निवास करते हुए स्वयं के आत्मा के रसमय स्वरूप को प्राप्त कर सके। इस हेतु विभिन्न आसन एवं प्राणायाम की विविध प्रक्रियाओं को अपनाना, इस पुरुषरूपी मानवदेह की पात्र रूप में पात्रता का विकास करना होता है। जिस प्रकार दूध, दही, घृत या किसी अन्य पदार्थ को किसी भी पात्र में धारण करने हेतु पात्र की स्वच्छता एवं शुद्धता अर्थात् पात्रता को अपनाना आवश्यक होता है। या, जिस प्रकार किसी पात्र में पूर्व से ही स्थित किसी पदार्थ को बाहर से देख लेने या उसका बोध प्राप्त करने हेतु उस पात्र की दीवारों का पारदर्शी काँच की भाँति स्वच्छ होना आवश्यक होता है। उसी प्रकार विभिन्न आसन एवं प्राणायाम की

प्रक्रिया को अपनाना, इस मानवदेह में निवास करते हुए, उस परमात्मा को प्राप्त करने या देहस्थ आत्मा के ब्रह्मरूप (कर्ता स्वरूप) को धारण करने हेतु स्वयं की पात्रता को प्राप्त करना या देहरूपी आवरण की निर्मलता को प्राप्त कर लेना होता हैं। इसे योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करना कहा नहीं जा सकता। ये सब तो इस जीवात्मा द्वारा देहरूप से आबद्ध अवस्था में मन अथवा चित्तरूप में धारण की गयी जड़वत् सुदृढ़ अवस्था जिसे मनीषी पुरुषों द्वारा चिज्जड़ग्रन्थि कहा गया है तथा जिसे हृदयग्रन्थी रूप में जाना गया है, ये सब उस हृदय गाँठ को खोलनें या उसका भेदन करने में सहायक होते हैं। यही इनका सार्वभौम महत्व या इनकी उपयोगिता होती है।

७.१ मानव मन की इस चिज्जड़ग्रन्थि का भेदनकर अन्त:स्थ आत्मा के विराट्रूप की स्मृति को प्राप्त करने और उसे धारण करने में यह आसन और प्राणायाम की प्रक्रिया सहायक होती है। यह इस देहरूप को विकाररहित बनाकर आवश्यक पात्रता प्रदान करती है। प्राणायाम की प्रक्रिया पर आधारित इस योगप्रक्रिया का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् में श्रुति द्वारा प्रकट् किया गया है कि-

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ॥ मुण्ड.उप. २.२.४॥

- अर्थात् ''प्रणव नाद ही धनुष है। यह आत्मा (जीवात्मा) ही बाण है। परब्रह्म परमात्मा ही उसका लक्ष्य कहा गया है। प्रमादरहित मनुष्य के द्वारा (वह लक्ष्यरूप परमात्मा इस धनुष-बाण की सहायता से) बींधा जाने योग्य है। अत: लक्ष्य से जुड़े हुए तीर की भाँति तल्लीन (तन्मय या तद्गत) अवस्था को धारण करना चाहिये।''

इस प्रकार मानवदेह में निवास करते हुए व्यष्टिपरक रूप में श्वास-प्रश्वास के गमनागमन से उत्पन्न होने वाले **'सोऽहम्'** रूपी प्रणवनाद को अपनाकर, मन के द्वारा चित्त की लक्ष्य से लगे हुए तीर की भाँति तद्गत या तन्मय अवस्था को धारण करना और इस तद्गत् अवस्था में उस सर्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना ही योग अथवा योगावस्था को प्राप्त कर लेना है। विराट् को प्राप्त कर विराट् का अंग बन जाना है। इस योगावस्था का परिणाम प्रकट् करते हुए श्रुति द्वारा आगे वर्णन किया गया है कि-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

।। मुण्डकोपनिषद् २.२.८।।

- ''उस परात्पर पुरुष को देख लेने पर (= तत्त्ववत: जान लेने पर) इस जीवात्मा की हृदयगाँठ खुल जाती है। देहरूप से आबद्ध सब संशय कट जाते हैं और कर्म के समस्त बन्धन नष्ट हो जाते हैं।'

इस प्रकार विभिन्न आसन एवं प्राणायाम की प्रक्रिया साधनरूप होकर शरीर की स्वस्थ अवस्था प्राप्त करने में सहायक होती है। स्वयं की प्रमाद रहित अवस्था में यह योगयात्रा के गंतव्य को प्राप्त कर लेना संभव बनाती है। यह मन की देहरूप से आबद्ध अवस्था जिसे मनीषी पुरुषों द्वारा 'चिज्जड़ग्रन्थि' कहा गया है, उसका भेदन करने में सहायक होती है। किन्तु यदि हम इस प्राणायाम प्रक्रिया को ही योगावस्था को प्राप्त करना मान लेते हैं तो यह कदापि उचित नहीं। यह तो लक्ष्य की प्राप्ति से भटक जाना है जिसे स्पष्ट करते हुए केनोपनिषद् में श्रुति का कथन है कि -

यत् प्राणेन न प्राणेति येन प्राण: प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

॥ केनोपनिषद् 1.8 ॥

७.२ इस योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करने का मार्ग महर्षि पतंजलि द्वारा 'अष्टाँग योग' रूपमें -यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पर आधारित होना वर्णन किया गया है। इस 'अष्टाँग योगमार्ग' में कुल तीन यात्रापद अथवा क्रियावर्ग निर्मित होते हैं। इनमें प्रथम वर्ग- यम, नियम का पालन करना; द्वितीय वर्ग- आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार को धारण करना; तथा तृतीय वर्ग- धारणा, ध्यान और समाधि रूप में संयम को अपनाना है। योगयात्रा की इस त्रिवर्ग अवस्था में यम एवं नियम पर आधारित जो प्रथम वर्ग है इसका पालन करना सबके लिये अनिवार्य होता है। यह योग प्राप्ति की प्राथमिक अनिवार्यता है जो व्यक्ति को शीलवान बनाती है। यह मनुष्य को मनुष्य बनने में सहायक होती है। **'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।'** (श्रीरामचरितमानस ५.४४.५) आधार पर यह आवश्यक पात्रता प्रदान करती है। योग प्रक्रिया का दूसरा वर्ग जिसे हमारे द्वारा आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार रूप में विभाजित किया गया है। यह द्वितीय वर्ग दशेन्द्रियों एवं मन की लय अवस्था प्राप्त करने एवं इस मानवदेह में स्थित पुरुषतत्त्व के असंग, अकर्ता स्वरूप को और उसकी पृथक्ता को जानने में सहायक होता है। यह ओज प्राप्ति का कारण बनता है। मनीषी पुरुषों द्वारा इस द्वितीय वर्ग में सप्रयास पारंगत अवस्था प्राप्त करना ही **'हठयोग'** के प्रादुभाव का कारण जाना जाता है। इस योगयात्रा में धारणा, ध्यान और समाधि पर आधारित तृतीय वर्ग साधन रूप होता है। यह

तृतीय वर्ग मन:चेतना से सम्बन्ध रखता है। यह इस मानवदेह में निवास करते हुए मन के द्वारा उस परमात्मा को जानना और प्राप्त करना संभव बनाता है जिसे श्रुति द्वारा- **'चेतसा वेदितव्यो'** (मुण्ड. उप. ३.२.९) अर्थात् 'स्वचेतना द्वारा जानने योग्य होना' और **मनसैवेदमाप्तव्यं** (कठ.उप. २.१.११) अर्थात् ''मन के द्वारा जानने और प्राप्त करने योग्य होना।'' कथन किया गया है।

आत्मतत्त्व की पञ्चकोश अवस्था आधार पर प्रथम वर्ग अन्नमय कोष अवस्था से पार उतरने, द्वितीय वर्ग प्राणमय कोष एवं मनोमय कोष से पार उतरने एवं तृतीय वर्ग मनोमय कोष का अवलंबन धारण करते हुए विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष की यात्रा करने एवं उस परमात्म तत्त्व का बोध प्राप्तकर उसमें ही रमण करना संभव बनाता है। इस प्रकार यह त्रिवर्ग शील, ओज और आनन्द आधारित उस परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति का आधार बन जाता है। अत: इस त्रिवर्ग आधारित योग यात्रापथ में उपरोक्त वर्णित विचारक्रम (क्रमांक २ से ६.७ तक) को आरम्भत: अपनाना शीघ्र ही सिद्धिदायक हो जाता है।

७.३ अपने ही आत्मा से प्राप्त की गयी इस योगरूपी सायुज्यता अथवा एकाकार अवस्था को गीतावाणी में ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त करना भी कहा गया है। अत: जब हम **'अहं ब्रह्माऽमीति'** अर्थात् 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'; या **'तत्त्वमसि'** अर्थात् 'वह आत्मा तुम स्वयं हो'; या **'सर्व खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् 'यह सब कुछ ब्रह्म का प्रकटरूप है'; या **'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् 'यह आत्मा ही ब्रह्म है'; की आधारभूमि पर स्वयं को ब्रह्म का प्रकट रूप होना स्वीकार कर लेते हैं, तो योगरूप में ब्रह्मभाव को प्राप्त करने हेतु मन की विकासयात्रा को अपनाना आवश्यक हो जाता है। मनुष्यरूप में जन्म प्राप्तकर मनुष्यता को अपनाना आवश्यक होता है। जिस प्रकार आम के वृक्ष पर प्रकट होने वाला प्रत्येक आम्रफल अपनी आरम्भिक अवस्था में आम्रफल के समस्त गुणों को धारण करने वाला होता है किन्तु 'आम' रूपमें जाना नहीं जाता है। आत्मविकास की पूर्णता उपरांत (अर्थात् स्वयं की रसमय, समुज्वल, स्वर्णिम आभामय, सुकोमल, गुदगुदी एवं वृक्षरूप के प्रति अनासक्त अवस्था को प्राप्त करने पर) ही वह 'आम' कहा जाता है। अपनी पूर्णपरिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेने पर ही आम्रफल अपनी अव्यय अवस्था को धारण करने वाला हो जाता है। उसी प्रकार यह मनुष्यरूप जीवात्मा भी पुरुषरूप में जन्म को प्राप्त कर 'पुरुषतत्त्व' की सोलहकला अवस्था को धारण करता हुआ अपनी विकास यात्रा को अपनाने वाला होता है। यह इस मानव जीवन में मनुष्यता के गुणों को अपनाकर ही ब्रह्मभाव रूप में योगावस्था को प्राप्त करता है। सबके प्रति आत्मभाव को अपनाकर ही यह अपनी अव्यय अवस्था को प्राप्त करता है। अत: गीतावाणी कथन

करती है कि उस परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने की जो विभिन्न क्रियाएँ हैं, उनमें योगावस्था को प्राप्त करना सबसे श्रेष्ठ है। :-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

॥ गीता ६.४६ ॥

अर्थात् - "(आत्मपुरुष श्रीकृष्ण का कथन) मेरा यह मत है कि योगी व्यक्ति तपस्वियों से श्रेष्ठ है; ज्ञानी अर्थात् शब्दज्ञानसम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है; वैदिक कर्मकाण्ड, स्मार्त और तान्त्रिक कर्म आदि करने वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन! तुम योगी हो जाओ।" और, इसके साथ ही यह भी स्पष्ट करती है कि :-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

॥ गीता ६.१ ॥

अर्थात् - (योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन') - "जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर अपना कर्तव्य कर्म करता है वह योगी है और वही सन्यासी है। जिनके द्वारा अग्नि का परित्याग किया है अर्थात् जो यज्ञ, होम, तप आदि कर्म नहीं करते हैं या जिनके द्वारा वाक्‌रूपा अग्नि का परित्याग करते हुए मौन को अपनाया गया है या जिनके द्वारा कर्म का पूर्ण परित्याग किया गया वह ऐसा पुरुष न तो योगी है और न सन्न्यासी ही।'

इस प्रकार कर्म को निर्दोष पूर्णता प्रदान करना, कर्म की दक्षता को धारण करना, कर्म-दक्षता का अभिमान नहीं करना, मुझे क्या मिलेगा? यह सोचकर कर्तव्यकर्म का परित्याग नहीं करना, अर्थात् कर्मफल की अपेक्षा न करते हुए सदैव ही कर्तव्य कर्म का पालन करना, आदि ऐसे गुण हैं जिन्हें अपनाकर यह पुरुषरूप (स्त्री-पुरुषरूप) योग की सहजावस्था को धारण करने वाला होता है। स्वयं के ब्रह्मरूप में वह परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करता है और वह ऐसा पुरुष उस परमात्मा से स्वयं की निकटता को धारण करता है, जिसे हमारे द्वारा 'संन्यास' धारण करना अर्थात् सन् + न्यासी = सन्न्यासी हो जाना, अर्थात् कर्मफल की अपेक्षा से रहित इस जगत् का प्रबन्धकर्ता (उपदेशकर्ता) हो जाना कहा गया है।

७.४ बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रुति ने प्राण को 'अमृत' होना वर्णन किया है- **'प्राणो वा**

अमृतं।' (बृह.उप. १.६.३) प्राण को ही 'समस्त देवगण' - **'एष उ ह्येव सर्वे देवाः'** एवं 'एक देव' होना कथन किया है- **'कतम एको देव इति प्राणः।'** (बृह.उप. ३.९.९) अतः प्राणोपासना को अपनाकर यह मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है तथा स्वयं के देवरूप को प्राप्त करने वाला होता है। इस मानवदेह में निवास करते हुए तथा प्राण के रहते हुए ही यह मनुष्य कर्म को अपनाने वाला होता है। कर्म के द्वारा ही यह परम सिद्धि को प्राप्त करता है। अतः ब्रह्मभाव रूप में 'सोऽहम्' मंत्र को अपनाकर प्राणोपासना करना और कर्मरत बनें रहना या कर्मरत अवस्था को धारण करते हुए 'सोऽहम्' मंत्र को अपनाकर प्राणोपासना करना और ब्रह्मभाव को धारण करना ही योगावस्था को प्राप्त करने एवं स्वयं के देवरूप में अमरता को प्राप्त करने का सर्वसुलभ साधन होता है। हम कर्म को अपनाकर योग अथवा योगावस्था को प्राप्त करें तथा प्राणोपासना करते हुए देवत्व को धारण करें, यही इस मनुष्यरूप जीवनयात्रा का साध्य होना जाना जाता है; जिसे प्राप्त कर लेना ही योग अथवा योगावस्था रूप में वर्णन किया गया है।

7.5 वेदान्त दर्शन - ब्रह्मसूत्र - में महर्षि बादरायण का कथन है कि वह परमेश्वर आकाशरूप है- **आकाशस्तल्लिंगात्।** (वेदान्तदर्शन् 1.1.22) यह समस्त जगत् उस परमात्मा का प्रकट् रूप है। अतः प्राणोपासना करते हुए बाह्य आकाश की भाँति इस मानवदेह में स्थित चिदाकाश का बोध प्राप्त कर लेना ही उस परमात्मा को प्राप्त करना या उससे योगावस्था को प्राप्त कर लेना होता है। अतः जब हम महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित अष्टांग योगसाधना में प्राणायाम की प्रक्रिया के साथ-साथ धारणा और ध्यान रूप में नाम-जप को अपनाते हैं तथा इस नामजप को अजपा रूप में अपनाकर, मन ही मन जप करते हुए, स्वचेतना की अन्तःप्रविष्ट अवस्था में जब इस 'शब्द स्वरूप' को चिदाकाश में उच्चारित एवं गुँजता हुआ सुन लेते हैं तो यही योगावस्था को प्राप्त कर लेना होता है। देहस्थ अक्षर पुरुष का बोध प्राप्त कर अमृतत्व को प्राप्त कर लेना होता है। अतः सर्वावस्था में कर्मरत रहकर उस परमेष्वर को प्राप्त करने का यह सहज एवं सर्वसुलभ मार्ग है जो मनुष्यमात्र को उस परमेश्वर को प्राप्त करने की पात्रता प्रदान करता है।

7.6 गीतावाणी सांख्यदर्शन तथा योग को एक होना कथन करती है। विद्वान् पुरुष 'सांख्य दर्शन' को वेदकालीन तथा 'योग दर्शन' को उसका परवर्ती या पश्चात्वर्ती होना कथन करते हैं। वे इन दोनों में कालचक्र आधारित युगात्मक भेद होना किन्तु इन्हें एक ही विषय का प्रतिपादन करने वाला जानते हैं। वे इन दोनों को आत्मबोध कराने वाला मानते हैं। दर्शनशास्त्र में मनीषी पुरुषों द्वारा 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः गणनार्थक 'संख्या' के अर्थबोध से

होना मानी गयी है। उनके द्वारा 'सांख्य' शब्द का एक अर्थ 'विवेक ज्ञान' भी लिया जाता है। इसे ज्ञानमार्ग का साधन कहा जाता है। सांख्य दर्शन का साररूप में यह मानना है कि हमारे द्वारा दृश्यजगत् में जो कुछ भी पृथक्-पृथक् जाना जाता है, या जिसे प्रकृति और पुरुष रूप में पृथक्-पृथक् जाना गया है, वह सब एक ही है। सब उस एक प्रकाशरूप परमात्मा का प्रकट्‌रूप है। (सांख्य दर्शन के अनुसार कुल पच्चीस तत्त्व- प्रकृति, महत्त्व (बुद्धि), अहंकार, पंचतन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और पुरुष, सृष्टि-जगत् का कारण माने गये हैं।) अत: इस जगत् में जो व्यक्ति बालबुद्धि को धारण करते हैं अर्थात् जिनके द्वारा बुद्धितत्त्व की अविकसित अवस्था में अभी तक सांख्य दर्शन के आधार एवं योग के परिणाम को भलीभाँति नहीं जाना गया है; अर्थात् जिनके द्वारा ब्रह्म के विस्तार रहस्य - **एकोऽहम् बहुस्याम्** - को प्रकट् करने हेतु सभी ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा उपयोग किये गये कूट-शब्द (सूत्र-शब्द) - **'एक:, एका, एकम्, दश, शत और सहस्र'** शब्द - के गूढ़ार्थ को नहीं जाना गया है; इन सूत्र शब्द के गूढ़ार्थ को जानकर विराट् पुरुष का बोध मनष्चक्षुओं द्वारा प्राप्त नहीं किया गया है; गीतोक्त कथन- **काल: कलयतामहम्** (गीता 10.30) के रहस्य को अर्थात् इन कूटशब्दों के गूढ़ार्थ द्वारा विराट् पुरुष को जानकर काल के गणनात्मक स्वरूप का अन्त हो जाना - **'पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते'** - नहीं जाना गया है। वे ऐसे अल्पविकसित बालबुद्धि लोग ही सांख्य एवं योग को प्थक्-पृथक् होना कथन करते हैं।

साङख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।
यत्साङ्ख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता ५.४ व ५ ।।

अर्थात्- ''सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) को अविकसित बुद्धि को धारण करने वाले (बालबुद्धि) लोग ही पृथक्-पृथक् फल देने वाला कथन करते हैं न कि पण्डित अथवा ज्ञानीजन; क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को ही प्राप्त होता है। 'सांख्य दर्शन' (ज्ञानयोग) द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है; योग (कर्मयोग) द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थरूप में देखता है।''

७.७ यह एक परमश्रेष्ठ आत्मा (परमात्मा) ही उत्पत्ति, संधारण और लय की तीनों ही

क्रियाशक्तियों को धारण करने वाला है। इन तीनों ही क्रियाशक्तियों के पृथक्-पृथक् धारणकर्ता स्वरूप को प्राचीन पुराणसाहित्य में ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप में पृथक्-पृथक् त्रिदेव रूप में वर्णन किया गया है। यह त्रिदेवमय पौराणिक पृथक्ता मात्र बोधगम्यता हेतु अपनायी गयी है। इस पृथक्ता में समाहित एकल अवस्था को भली भाँति स्वीकार करने हेतु हमें सदैव स्मरण करना चाहिए कि जिस प्रकार कोई किसान फसल को उत्पन्न करता है, उसकी वृद्धि का प्रबन्ध करता है और स्वयं ही उस फसल को अन्नरूप में ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह एक आत्मा (परमात्मा) ही अपने अविभक्त रूप में विभक्त हुआ सा कालचक्र रूप में इन तीनों ही क्रियाशक्तियों को धारण करता है। गीतावाणी में आया निम्न कथन इसी एक अवस्था को अभिव्यक्त करता हैं :-

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
॥गीता १३.१६॥

अर्थात् - 'वह परमात्मा अविभक्त होकर भी सब प्राणियों में विभक्त हुआ सा स्थित है। वह जानने योग्य परमात्मा ही सबको उत्पन्न करने वाला, सबका भरण-पोषण करने वाला और सबको लय अवस्था प्रदान करने वाला है।'

7.8 उस परमेश्वर का यह उत्पत्ति, संधारण और लयकर्ता स्वरूप ही प्राचीन कथा साहित्य में 'सुदर्शनचक्र' के धारणकर्ता रूप में प्रकट् हुआ है। इस जगत् में कालचक्र का संचरण ही प्रत्येक प्राणी के जीवन में उल्लास, उमंग, ओज, आनन्द और प्रसन्न्ता का कारण उपस्थित करता है। इस सर्वकल्याणकारी अवस्था के आधार पर ही कालचक्र के संचरण को 'सुदर्शन चक्र' कहा जाना प्रकट् होता है। कालचक्र के इस 'सुदर्शन स्वरूप' को स्वरूप को धारण करने वाला वह अमृतस्वरूप परमात्मा जो अजन्मा होकर भी सबके जन्म का कारण है; जो सबका अन्तरात्मा है, जो सबका ही धारण-पोषण करने वाला है और जो सबको ही ग्रहण करने वाला है; उसको ही जानना और प्राप्त करना चाहिए। वही अक्षय सुख एवं अमृतत्व की प्राप्ति का आधार है। उस सुदर्शन स्वरूप को सप्रयास प्राप्त करने का यह चिरमार्ग ही योग अथवा योगावस्था रूपमें ख्याति को प्राप्त है। उस सुदर्शन स्वरूप को सप्राप्त करने का यह चिरमार्ग ही योग अथवा योगावस्था रूपमें ख्याति को प्राप्त है। इति।। हरि ॐ तत्सत्।।

बहत्तर घण्टे के लेखन कार्य में कृति- **'परम तत्व का क्रीड़ा विलास'** का उद्भव। (यह इस कृति का सहज नामकरण रहा।) इस लेखन कार्य के दौरान ही हृदय ग्रन्थि के प्रकाशमय विस्फोट् रूप भेदन का अनुभव। **'एकोऽहम् बहुस्याम्'** के चतुष्पाद् विस्तार को अभिव्यक्त करने हेतु देववाणी संस्कृत भाषा के प्राचीन वैदिक एवं उपनिषद् वाङ्मय तथा अन्य आर्षग्रन्थों में सब ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा उपयोग की गयी **'संस्कृत सूत्र (कूट) शब्दावली'** तथा इसके अंतर्गत उपयोग किये गये कूटशब्द - **'एक:, एका, एकम्, दश, शत एवं सहस्र'** शब्द (इन कुल छः शब्दों) का वैदिक ऋचा-ज्ञान को प्रकट करनेवाला अर्थबोध (बोधार्थ) आत्मतः प्राप्त। इन कूट शब्दों के गूढ़ार्थ को श्रुतज्ञान परम्परा में अक्षरपुरुष के प्रकट रूप का बोध प्रदान करनेवाला जाना गया। उपनिषद् ज्ञान की गुरु-शिष्य परम्परा में इन सूत्र-शब्दों का बोधार्थ ही ब्रह्मविद्या अथवा पराविद्या को प्रकट करने वाला एवं प्राचीन शिक्षा का आधार होना जाना गया। इसके साथ ही अविनाशी आत्मा के सनातन अश्वत्थ वृक्षरूप (पंचवटी स्वरूप) का बोध एवं इस सृष्टिचक्र में देव, पितर्, ब्रह्म एवं मनुष्य के अहोरात्र पर आधारित चार युगों पर आधारित चार युगों की अवधारणा का रहस्य और गणना के अंक, दशमलव प्रणाली, शून्य के उद्भव एवं प्राचीन भारतीय खेलों में समाहित जीवनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को भी आत्मतः जाना गया। कालपुरुष के अव्यय अक्षय सनातन लोक-धारणकर्ता स्वरूप को जानकर, काल-चक्र के युगात्मकस्वरूप में आये परिवर्तन की उद्घोषणा करते हुए अन्य ग्रन्थों (कृतियों) का प्रणयन।

अन्त:स्थ प्रभु के प्रसादस्वरूप अनवरत रूप से चलने वाले इस सृष्टिचक्र में एक चतुर्युगी का अवसान एवं **'कृतयुग'** का आगमन होना जानकर कर्मनिष्ठा को वरीयता। **'नियतं कुरु कर्म'** आधार पर गीतोक्त निर्देश - **''सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो.... चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।''** (गीता 3.25) का अनुपालन करते हुए सेवारत नियतावधि की पूर्णता हेतु शासकीय सेवा में निमग्न रहकर यथावसर एकाकी लेखनकार्य। सेवाकार्य से कार्य निवृत्ति उपरांत 'सिंहस्थ 2004 की पृष्ठभूमि पर लेखनाधीन कृति **'स्नान रहस्य'** (मोक्ष : सिद्धि का मार्ग) को पूर्णता प्रदान की गयी।

स्नेहमयी माता की प्रेरणा एवं कठोर अनुशासन के कारण अक्षर ज्ञान उपरांत बचपन से ही श्रीमद्भगवद्गीता का नित्यपाठ करना अनिवार्यता रही। गीतावाणी का सतत् अध्ययन और पूज्य माता-पिता की कर्मनिष्ठा, सेवा, त्याग, जनकल्याण और उत्सर्ग की भावना ही कर्म के आदर्शरूप में आत्मोन्नति का आधार बनीं। अत: अपने समस्त लेखनकार्य एवं आत्मिकविकास का श्रेय अपने माता-पिता के प्रति समर्पित है।

सम्प्रति :- सेवानिवृत्ति उपरान्त आत्मिक चिन्तन के साथ वैदिक एवं उपनिषद् वाङ्मय तथा अन्य आर्षग्रन्थों का अध्ययन करतेहुए स्वानुभूतिपरक लेखन कार्य एवं अभिव्यक्ति का प्रयास जारी।

* * *
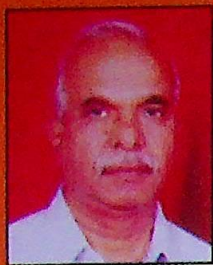
* **नाम** - गिरीश कुमार चौबे '**गोवर्द्धन**',
* **पिता का नाम** - स्व. श्री प्रभुदयाल चौबे, (स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, सदस्य मध्यप्रदेश विधानसभा एवं प्रथम अध्यक्ष मध्यप्रदेश 'गौ-सेवा आयोग')।
* **माता का नाम** - स्व. श्रीमती केशरदेवी चौबे,
* **जन्म स्थान** - माचलपुर, जिला राजगढ़ (ब्यावरा), मध्य प्रदेश,
* **जन्म तिथि** - माघ माह, शुक्ल द्वितीया, विक्रम संवत् 2005. तदनुसार जनवरी 30, सन् 1949,
* **शिक्षा** - एम. ए. (राजनीति विज्ञान एवं दर्शन शास्त्र), एलएल. बी., विद्यालयीन शिक्षा जीरापुर, जिला राजगढ़ (ब्यावरा) एवं महाविद्यालयीन शिक्षा माधव महाविद्यालय, उज्जैन तथा सैफिया महाविद्यालय एवं हमीदिया महाविद्यालय भोपाल में अध्ययनरत रहकर प्राप्त की गयी।
* **शासकीय सेवाकार्य** :- वर्ष 1972 में राज्य शासन के 'वाणिज्यिक कर विभाग' में 'विक्रय कर निरीक्षक' के पद पर नियुक्त। लगभग 38 वर्ष के दीर्घ अबाधित (अलांछित) सेवाकाल उपरांत वर्ष 2009 में 'सहायक आयुक्त वाणिज्यिक कर' पद से सेवानिवृत्त।
* **आध्यात्मिक एवं धार्मिक लेखन कार्य की पृष्ठभूमि** - वर्ष 1978-79 के सेवाकाल में सेंधवा किला परिसर (म.प्र.) में स्थित 'राज राजेश्वर मन्दिर' में दिवस के मध्याह्नकाल में शिवोपासना करते हुए प्रणवनाद (ओंकार नाद्) का साक्षात्कार। भयमिश्रित रोमांच के साथ स्वयं का अस्तित्व शून्य होना एवं यह सब कुछ (समस्त दृश्य जगत्) 'ओंकार नाद' का सर्वाधार प्रकट्रूप होना जाना गया। तदुपरान्त कुण्डलिनी शक्ति के उद्दीपन के साथ ही आत्मिक अनुभूतियों का विस्तृत दौर और नियत यात्राएँ। श्रृंखलाबद्ध रूप में अनेक पूर्वजन्म की स्मृति प्राप्त। सप्रयास विगत की अन्तर्यात्रा पर विराम। धर्मोपदेशकर्ता देहस्थ आत्मतत्त्व का अस्तित्व शाश्वत एवं अविचल होना जाना गया।

वर्ष 1994 के चैत्र नवरात्र में माँ शारदा के प्रसाद् स्वरूप लेखनीं का प्रवाह प्रस्फुटित। प्रथम कृति **आत्मानुभूति** (परम तत्व अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार) ग्रन्थ का प्रणयन। लेखनकार्य के दौरान ही प्रतिपल तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर हो रहे स्वर्णिम तेजोमय प्रकाशरूप में आत्मस्थ प्रभु का आदित्यरूप में दर्शन। अन्तश्चक्षु के चौंधियाकर बन्द हो जाने पर स्वयं की भौचक्क अवस्था में लौकिक चेतना का पुनर्बोध। इस 'दिव्य अनुभूति' को 'साक्षात्कार' शीर्षक (कृति आत्मानुभूति) के अन्तर्गत शब्द रूप प्रदान करने के प्रयास में 'अन्तःस्थ प्रभु' के प्रसाद स्वरूप लगातार साढ़े बाईस घण्टे तक सतत लेखन कार्य। अँगुली के पोरों में दर्द, अतः किंचित् विश्राम के साथ ही कुल